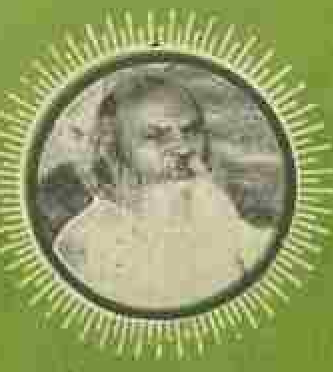

सिद्धयोग

संस्थापक
योग योगीश्वर अनन्तश्री
चन्द्र मोहनजी महाराज

जून-जुलाई १९९१

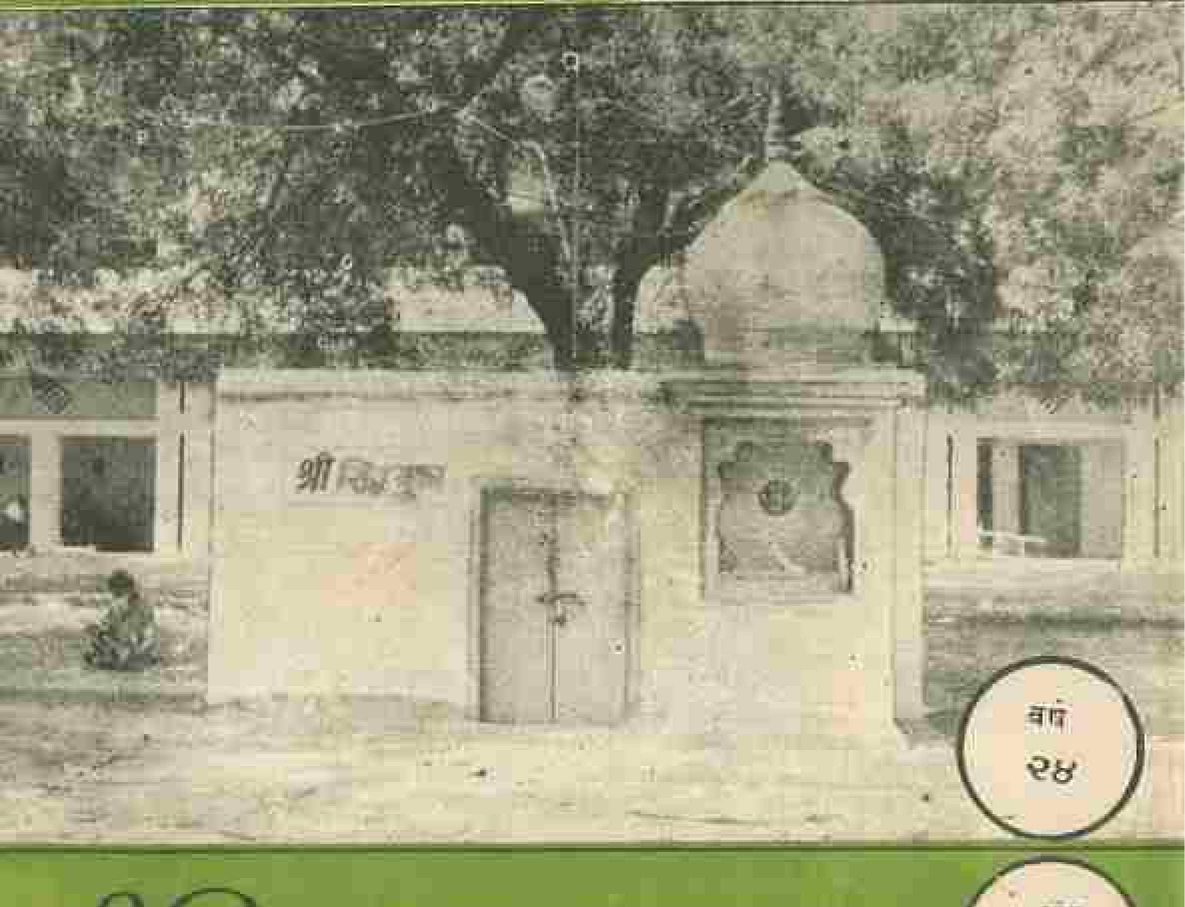

वर्ष
२४

अंक
२,३

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक :
श्री 'दिव्य'

जून-जुलाई
१९९१

इस अंक में पढ़िए

★ स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः (प्रार्थना) १
★ अभ्यास योग की साधना (विशेष लेख) २
—ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
★ मैं और मेरा क्या ? (सम्पादकीय) ५
★ जरूरत नहीं है (कविता) ८
—श्री अशोक गुप्ता
★ तयोर्नवशमागच्छेत् ९
—श्री राजेन्द्रप्रसाद पाठक
★ दो गद्य गीत ११
—सुश्री दिनेश नन्दिनी डालमिया
★ अन्तर्यामी श्री गुरुदेव १२
—आचार्य चिन्तामणि पाण्डेय
★ उड्डीयन बन्ध—प्रकार और फल १६
—योगी श्री आत्माराम
★ हठयोग—सूफी सम्प्रदाय में १७
—डा० रामस्वरूप जी आर्य
★ हमारी अन्तःचेतना की माँग क्या है ? २०
—डॉ० विजयसिंह
★ अजपा में मन्त्र २८
—श्री विष्णुप्रसाद व्यास
★ पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम् ३२
★ मन भाने की बात ३४
श्रीमती सरिता भारद्वाज, एम.ए., बी-एड.
★ योग —एक योग-साधक साधु ३७
★ सन्तों का सदाचरण (कविता) ४०
—श्री नारायण स्वामी
★ नित्य की प्रार्थना : प्रार्थना में विवेक ४१
—आचार्य विनोबा
★ सांप के पास मत जाओ ४५
★ सत्यं-शिवं-सुन्दरम् ४७
—स्वामी विश्वानन्द सरस्वती

वार्षिक मूल्य ४५ रुपया।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २४ अङ्क ३, ४	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखविवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः । तत्प्राप्त्यर्थम् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ।।	जून-जुलाई १९९१

स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवां सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।।

—यजुर्वेद

गुरु के यहाँ अध्ययन करने वाले शिष्य अपने गुरु, सहपाठी तथा मानवमात्र का कल्याण-चिन्तन करते हुए देवताओं से प्रार्थना करते हैं: हे देवगण ! हम अपने कानों से शुभ—कल्याणकारी वचन ही सुनें। निन्दा, चुगली, गाली या दूसरी-दूसरी पाप की बातें हमारे कानों में न पड़ें और हमारा अपना जीवन सेवा परायण हो—हम सदा भगवान की आराधना में ही लगे रहें। न केवल कानों से सुनें, नेत्रों से भी हम सदा कल्याण का ही दर्शन करें। किसी अमङ्गलकारी अथवा पतन की ओर ले जाने वाले दृश्यों की ओर हमारी दृष्टि का आकर्षण कभी न हो। हमारे शरीर, हमारा एक-एक अवयव सुदृढ़ एवं सुपुष्ट हो—वह भी इस लिए कि हम उनके द्वारा भगवान का स्तवन करते रहें। हमारी आयु भोग-विलास या प्रमाद में न बीते। हमें ऐसी आयु मिले, जो भगवान के कार्य में आ सके।

विशेष लेख :–

ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

चाहे पारलौकिक जीवन की उन्नति के प्रयत्न हों या लौकिक जीवन की उन्नति के, सभी में श्रम, साधना और यत्न की आवश्यकता रहती है और इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए निरन्तर का अभ्यास अनिवार्य है, इसलिए अभ्यास की साधना का अपना महत्व है। योग-साधना में भी अभ्यास-योग के इस महत्व को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता। यही विश्लेषण किया है पूज्य श्री गुरुदेव जी के प्रस्तुत लेख में। आशा है पाठक इससे समुचित दिशा-दर्शन पा सकेंगे।

—सम्पादक

अभ्यास योग की साधना

योग के विविध अंगों में अभ्यास योग का अपना विशेष महत्व है। बिना अभ्यास योग की साधना के कोई भी अन्य योगाङ्ग साधक को इष्ट की उपलब्धि कराने में सहायक और समर्थ नहीं हो पाता है। जपयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, राजयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, नादयोग, लययोग, हठयोग आदि सभी का आधार अभ्यास योग ही होता है। बिना अभ्यास योग की साधना के साधक इनमें से किसी भी यौगिक क्रिया को अपनाकर समाधि लाभ में सक्षम नहीं हो पाता। समाधिलाभ की क्षमता अभ्यास योग को क्रियात्मक रूप से अपना लेने से ही हासिल हो पाना मुमकिन होता है। योग-दर्शनकार भगवान पतञ्जलि देव ने योग की परिभाषा के रूप में जहाँ 'योगश्चित्त वृत्ति निरोध' का उपयोगी सूत्र हमारे सामने रखा वहीं समाधि पाद के सूत्र संख्या १२ में यह भी बड़ी स्पष्टता से बता दिया है कि चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिए जितने भी अवलम्बन हैं उन सबकी दृढ़ता व स्थिरता अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही हो सकती है यथा—

अभ्यास वैराग्य तन्न निरोधः

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है। चित्त में वृत्तियों का उदय होना—चित्त का अपना स्वाभाविक धर्म होता है। अतः उनका सर्वथा उन्मूलन तो असम्भव ही रहता है। वृत्ति निरोध का अर्थ यहाँ इतना ही है कि जो वृत्तियाँ साधक को सांसारिक विषय-वासनाओं की ओर ले चलने को प्रेरित करें उन्हें वैराग्य की भावना द्वारा अग्राह्य और अकल्याणकारी समझ उनसे विमुख होकर कल्याणकारी श्रेयस्कर मार्ग की ओर ले चलने वाले वृत्ति प्रवाह का अनुसरण साधक करे। इसी अभिप्राय से उपर्युक्त सूत्र में वैराग्य शब्द का नियोजन किया गया है। वैराग्य की भावना का यह प्रवाह भी साधक के चित्त अथवा अन्तर मन में निरन्तर बना रहना चाहिए। इसके लिए अभ्यास की अनिवार्यता समझते हुए वैराग्य के साथ सूत्र में अभ्यास शब्द भी जोड़ दिया गया है। अभ्यास के बिना कोई भी क्रिया—चाहे वह मानसिक, वाचिक अथवा शारीरिक किसी भी प्रकार की क्यों न हो अपना स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पाती—जैसा कि साधनपाद के सूत्र संख्या १३ में इसी आशय को स्पष्ट करते हुए स्वयं भगवान पतञ्जलि देव कह रहे हैं :

तत्र स्थितौ यत्नो अभ्यासः ।

अर्थात् (अभ्यास और वैराग्य में) स्थिति विषयक यत्न का नाम ही अभ्यास है। यह अभ्यास भी यदाकदा नहीं किन्तु दीर्घकाल तक बिना किसी रुकावट के चलता रहना चाहिए। यह भी योगदर्शनकार ने सूत्र संख्या १४ में स्पष्ट किया है। यथा—'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।'

अर्थात्—वही अभ्यास जो दीर्घकाल तक आदर के साथ आसेवित होता है दृढ़भूमि—यानी दृढ़ता और स्थैर्य को प्राप्त होता है।

आदर के साथ आसेवित होने का अर्थ होता है, श्रद्धा के साथ अनुष्ठान का प्रयत्न एक लम्बे समय तक नियमित रूप से करते रहना।

योगयोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता में योगदर्शन के इसी सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है। अर्जुन के यह पूछने पर कि जो मन स्वभावतः चंचल और दुर्निग्रही है उसे स्थिर करने अथवा अपने वश में करने का उपाय क्या है? भगवान का स्पष्ट सा उत्तर यही रहा कि पार्थ! तेरा प्रश्न सर्वथा उचित है, मन अथवा चित्त बड़ा ही चंचल और दुर्निग्रही है किन्तु—

अभ्यासेन तु वैराग्येण च गृह्यते

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य की साधना द्वारा इसे वश में किया जा सकता है।

जगदात्मा का यह उत्तर भी अभ्यासयोग की साधना के महत्त्व का परिचायक है। लोक व्यवहार में भी यही देखने में आता है कि जिस विद्या अथवा कला में जिसने भी जो विशेष योग्यता प्राप्त की हुई है उसका मुख्य कारण उसका अपना अभ्यास ही रहा होता है। नृत्यकला, संगीत वाद्यकला आदि में भी जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कलाकार होते हैं वे नित्य नियमित दीर्घकालीन अभ्यास साधना को अपनाकर ही यश और कीर्ति के भागी बन पाते हैं। इतिहास प्रसिद्ध सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने सुल्तान मुहम्मद गौरी का वध अपने को बन्दी बनाये जाने एवं नेत्र ज्योति चले जाने के बाद भी जिस शब्द वेधी बाण से किया वह उनकी अभ्यास योग की साधना का ही परिणाम था। यह अभ्यास योग जड़मति को भी महा बुद्धिमान और प्रज्ञावान बना देता है। हिन्दी साहित्य के एक कवि की निम्नांकित उक्ति इसी संबंध में बड़ी ही उपयुक्त और पठनीय है—

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात ते, सिल पर परत निसान।

कहते हैं संस्कृत का महा पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए वोपदेव नामक एक युवक ने जिसे उसके माता-पिता ने विद्या और ज्ञान के अर्जन में यथोचित रुचि न लेने के कारण घर से निकाल बाहर किया था। तब उसने पठन-पाठन में गहरी रुचि लेने का संकल्प लिया जब किसी कुए पर पनघट के पत्थर में रस्सी के घिसावट से पड़े गड्ढों को देख लिया। उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि जब मुलायम-सी रस्सी की घिसाव से पाषाण की शिला भी कट सकती है तब मेरी जड़मति भी नित्य के पठन-पाठन के अभ्यास से तीव्र क्यों नहीं हो सकती? हुआ भी ऐसा ही। पढ़ने-लिखने में उसने अभ्यास योग का आश्रय लिया, जिसके फलस्वरूप कालान्तर में वह अपने समय के धुरन्धर विद्वानों में गिना जाने लगा।

यह भी प्रायः सबकी जानकारी में है ही कि सरकसों में जंगली पशु भी अपने संचालक के संकेत पर अनुशासनबद्ध रहकर आश्चर्यजनक

कला-कौशल दिखलाकर दर्शकों की प्रसन्नता के पात्र बन जाया करते हैं। जंगली पशुओं के इस प्रकार के आश्चर्यजनक प्रदर्शनों की पृष्ठ भूमि में उनको उनके संचालक द्वारा कराया जाने वाला अभ्यास ही होता है। नियमित रूप से दीर्घकालीन अभ्यासयोग की साधना से जब जंगली पशु भी अनुशासित मानव के समान कार्यरत होने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं तब सम्भवतः चिन्तनशील मानव इस साधना को सम्बल बनाकर वह सब कुछ क्यों नहीं प्राप्त कर सकता—जिसे प्राप्त कर लेने का दृढ़ संकल्प लेकर वह कार्य क्षेत्र में उतर पड़ा हो।

योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद् भगवत गीता में अनेक जगह अभ्यास योग की श्रेष्ठता पर अपने विचार प्रकट किये हैं। छठवें अध्याय के श्लोक संख्या ४४ में वे यह बता रहे हैं कि अभ्यास योग की साधना का मुक्त साधक न केवल इस जन्म में प्राप्त करता है बल्कि जन्मान्तर में भी यह साधना उसे फलदायी बन जाया करती है। पढ़िए गीता का वह श्लोक जिसमें अभ्यास योग की महत्ता का वर्णन आया है—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव
ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥

अर्थात्—जो जिज्ञासु योगी-योगमुक्त हो कर अगला मानव जन्म प्राप्त कर पाते हैं। वे अपने अति बलवान पूर्व योगाभ्यास के बल पर पुनः पिछले जन्म में छोड़ी गई योगसाधना से संयुक्त हो जाते हैं।

अभ्यास योग की साधना में साधक को यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि उसका अभ्यास ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिए। ज्ञान शून्य अभ्यास से वांछित फल की प्राप्ति नहीं करा सकता। (श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्) भगवान श्रीकृष्ण का यह कथन कि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है इस सिद्धान्त की पुष्टि करता। कि अभ्यास योग की साधना में ज्ञान का सामन्जस्य भी रहना ही चाहिए। ज्ञान शून्य अभ्यास तो पारमार्थिक लाभ से वंचित रख कर भौतिक लाभ के कटीले जंगलों में ले जाकर साधक को भटकाव में उलझा सकता है। ऐसी उलझनों से साधक बचते हुए अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ता चले इसीलिए ज्ञान और अभ्यास का सामन्जस्य रखना श्रेयकर बताया गया है। श्रीमद्भगवद गीता के १२वें अध्याय के निम्नलिखित श्लोक भी इस सन्दर्भ में विशेष रूप से पठ-नीय है।

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव
अतः ऊर्ध्वं न संशयः ॥
अथ चित्तं समाधातुं न
शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो
मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥

गीता १२/८-९

भगवान समझाते है, हे अर्जुन! यदि मुझ विश्वरूप ईश्वर में अपने मन और अपनी बुद्धि को स्थिर कर लेगा तो तू निस्सन्देह रूप में मुझको ही प्राप्त होगा। यानी मुझ में ही निवास करेगा।

यदि तू मेरे भाव में अपने मन और बुद्धि को लगाने में समर्थ नहीं हो सकता तो तू

सम्पादकीय :—

मैं और मेरा क्या ?

मैं और मेरा—यह दो शब्द सुनने और समझने में बड़े ही मधुर और प्रिय लगते हैं। ये मधुर और प्रिय लगने भी चाहिए क्योंकि इनका जन्म हमारी अपनी अहं वृत्ति से ही होता है। अहंकार वृत्ति जीव के साथ ही जन्म लेती है और इसलिए जन्म लेती है ताकि जीव इसके द्वारा अपने व्यक्तित्व और अपने अस्तित्व का स्वयं आभास पा सके और दूसरों को भी अपने अस्तित्व का परिचय और आभास करा सके। व्यक्ति रूप में मैं हूं, मेरा धर्म, मेरा परिवार, मेरी देह, मेरा गेह, मेरा देश, मेरा पद, मेरा अधिकार, मेरा पुत्र, प्रपौत्र आदि भी हैं और सभी से मेरा अपनेपन का नाता है—यही परिचय प्रकट करने को 'मैं और मेरा' ये दो शब्द हम सबको प्रायः हर क्षण पारस्परिक व्यवहार में आगे लाने पड़ते हैं। परिचय की अनिवार्यता के लिए अथवा समाज के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करने के लिए न तो इन दो शब्दों का प्रयोग अनुचित और अनावश्यक कहा जा सकता है न अव्यावहारिक और अप्रासंगिक। अव्यावहारिक और अप्रासंगिक ये शब्द उस समय बन जाते हैं जब हम कर्तव्यपालन की सीमाओं से बाहर जाकर रागरंजित होकर मैं और मेरा के सीमाक्षेत्र को बढ़ाकर सामने खड़े किसी दूसरे 'मैं और मेरा' के अधिकार क्षेत्र की सीमा में घुसकर उससे टकराना शुरू कर देते हैं। मैं और मेरा की यह टकराहट वाली स्थिति ही व्यक्ति के पतन और विनाश का कारण बन जाती है। इसीलिए भगवती श्रुति ने बड़े ही स्पष्ट और खुले शब्दों में शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने को यह अमर सूक्त हम सभी को दिया है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥

—यजुर्वेदीय ईश उपनिषद् १/१

अभ्यास योग का आश्रय लेकर ऐसा करने की क्षमता प्राप्त करें। ऐसे अभ्यास योग के अवलम्बन से तेरा चञ्चल मन अवश्य ही मेरे में समाहित हो जायगा।

ऐसी महिमा है अभ्यास योग की जिसे अपनाने का दिशाबोध स्वयं भगवान ने अर्जुन के माध्यम से सारे संसार के बुद्धिजीवी समाज को दिया है।

अतः इसका अनुपालन नियमित रूप से उन सभी को करना चाहिए जो परमार्थ-लाभ और कीर्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिए किसी भी यौगिक विधा अथवा लोक-कल्याणकारी कला को प्राप्त करना चाहते हैं।

अर्थात् इस जगत में जितना जो कुछ भी देखने में आता है उस सबमें ईश्वर आवासित है। इसी के स्वामित्व में यहाँ का सब कुछ है। तुम्हें तो केवल इसके उचित उपयोग का अधिकार है वह भी थोड़े समय के लिए। अधिक से अधिक जीवन के अन्तिम क्षण तक तुम इसके उपयोग अथवा उपभोग का अधिकार रखते हो। इसे अपना मान लेने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं—जिसके तुम मालिक नहीं, स्वामी नहीं उसकी ओर तुम्हें गृद्धदृष्टि से देखने और उसे अपना जानकर झपट लेने की कुचेष्टा भी कभी किसी को करनी ही नहीं चाहिए। ऐसी कुचेष्ट वेदशास्त्र और नैतिक आचरण के विपरीत ही कही जा सकती है। इसीलिए दैनिक यज्ञ के लिए नियोजित मन्त्रों में बार-बार 'इदं न मम' का वाक्य दुहराया जाता है। जो अपना नहीं है, मैं और मेरे के दायरे में जो आता ही नहीं है उसे हम अपना मानकर दूसरों से व्यर्थ में लड़ने झगड़ने को आमादा हो जाते हैं, इससे बड़ी अज्ञानता, अथवा जानबूझकर की गई भूल और क्या हो सकती है।

ईसावास्य उपनिषद् का उपरोक्त मन्त्र न जाने क्यों उन लोगों के आचरण और व्यवहार में घटित नहीं होता, जो मैं और मेरा क्या है, इसी खोजबीन में दिन रात लगे रहते हैं। जिन्हें कर्त्तव्य पालन या जीवन-निर्वाह मात्र के लिए उन्हें कोई विरासत सौंपी गई है। या उपयुक्त जनहित सम्पादन के लिए जिन्हें कोई कोष अथवा पद-भार दे दिया गया है वे उसे नितान्त अपना बना लेने के घात-प्रतिघात में ही जुटे रहते हैं, ऐसे लोग कल्याण और श्रेय के भागी कभी नहीं बना करते। श्रेयस्कर जीवन की प्राप्ति के लिए तो 'इदम् न मम्' का सूत्र ही सदा हम सब के सामने रहना चाहिए किसी सन्त कवि ने भी तो यही कहा है—

मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागे है मोर॥

योगिराज भगवान श्री कृष्ण ने भी प्रकारान्तर से यही सार तत्व अर्जुन को भी समझाया है। श्रीमद् भगवद्गीता में वे कह रहे हैं—

यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९।२७)

अर्थात् हे कुन्तीपुत्र तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।

जीवन धारण के लिए कर्मों का करना तो आवश्यक रहता ही है पर जो भी कर्म हम करें उनमें भगवद्-अर्पण की भावना सदैव समाहित रहनी चाहिए। क्योंकि जिस देह अथवा आत्म-शक्ति से हम जो कुछ भी काम करते हैं उसके मूलमें तो वही ब्रह्मशक्ति है जो 'सूत्रे मणि गणा इव' की भाँति सब में पिरोयी हुई है। बिना उस सर्वाधार के हमारी अपनी शक्ति तो कुछ है ही नहीं। इसीलिए उपनिषद् का ऋषि कहता है,यहाँ तुम्हारा अपना कुछ है ही नहीं—'ईशावास्यमिदं सर्वम्' है यानी सबमें यहाँ ईश्वर तत्व नामक महाशक्ति समाई हुई है, वही शक्ति तत्व सबकी मालिक और स्वामी है, फिर तुम क्यों पराई सम्पदा को अपनी बनाने के ताने-बाने बुना करते हो, तुम्हारा धर्म है कि सार्वजनिक हितमें तुम तो उसे सुरक्षित रखो, उसका उचित रूपेण उपयोग करो व उसे और अधिक विकसित व विवर्धित करनेमें अपना पूरा-पूरा सहयोग प्रदान करो। ऐसा करना ही हमरा सबका अपना स्वधर्म होगा। यदि हम तुम सब इस जगत् में इस स्वधर्म के पालन में पीछे रहते हैं अथवा इसके पालन में कोई भूल या जानबूझकर प्रमाद या छलावा करते हैं तो आने वाली पीढ़ी हमें ऋषिपुत्र और देवपुत्र कहकर पुकारने में संकोच का अनुभव करेगी। पराई सम्पदा और पराई धरोहर को, मैं और मेरा के परिक्षेत्र में ले लेने के प्रयत्नों से सदैव बचकर ही रहना चाहिए। यही हमारे मानव-जीवन की सही-सी कंचन कसौटी होगी।

हमारे गुरुदेव हमारे सामने अपने अनासक्त जीवन का एक ऐसा आदर्श छोड़कर गये हैं जिसका अनुकरण हम सभी को करना चाहिए। आप सभी जानते हैं कि अलौकिक ऐश्वर्यों के आगार, पर्याप्त भौतिक सम्पदा का स्वामित्व रखते हुए भी उससे उनका लगाव उसी प्रकार निर्लेप रहा, जैसे जल-राशि के तल पर रहते हुये भी कमलपत्र नितान्त निर्लेप बना रहता है। चलते समय अनायास ही वे सब कुछ यथावत् छोड़कर वैसे ही चले गए जैसे कोई बटोही प्रसन्नमुद्रा में अपने अगले पड़ाव लिए पिछले पड़ाव को छोड़कर आगे बढ़ जाता है। उनका पूरा जीवन आदि से अन्त तक अनासक्त योग का एक उच्चतम उदाहरण रहा। उनकी इस त्याग, तपस्यामय लोक-हितकारिणी जीवन-शैली का अनुकरण हमारा और उन सभी का लक्ष्य होना चाहिए जो उनके निकट सम्पर्क का लाभ उठा चुके हैं और जो उन्हें अपने गुरुदेव अथवा इष्टदेव के रूप में अपने हृदय में प्रतिष्ठापित किये हुए हैं।

—सम्पादक

जरूरत नहीं है

● श्री अशोक गुप्ता,

अगर हाथ रखदें मेरे सर पे सद्गुरु,
मुझे फिर किसी की जरूरत नहीं है।
बिठालें अगर अपने चरणों में हरदम,
किसी भी खुशी की जरूरत नहीं है॥ अगर हाथ....

ये फूलों की दुनिया ये ख्वाबों की दुनिया,
ये लालच में फँसके बेचारों की दुनिया।
अगर पी सकूं सद्गुरु मस्ती का अमृत,
किसी बेखुदी की जरूरत नहीं है॥ अगर....

दया की है तुमने तो हर बार कर दो,
मेरी जिन्दगी पे ये उपकार कर दो।
अगर छोड़ बैठूं मैं दामन तुम्हारा,
तो इस जिन्दगी की जरूरत नहीं है॥ अगर हाथ....

चले यहाँ से तेरे काम करके,
कभी ना रुकेंगे अँधेरों से डरके।
अगर साथ हो सद्गुरु बाबा का दीपक,
किसी रोशनी की जरूरत नहीं है॥ अगर....

●

प्रकाश और अन्धकार

—श्री 'दिव्य

प्राण दीप तो जला किन्तु घर जगमग हुआ न मेरा,
जब-जब झाँका उर-आँगन में तब-तब मिला अँधेरा।
तन-पुरवा में गई जलाई सदा ज्योति की रेखा,
लेकिन मन के अन्धकार का अन्त न होते देखा!
तम ने अपना जाल धरा पर है कुछ ऐसा डाला,
जिसमें दिग्दर्शक बनकर भी उलझा रहा उजाला॥
ऊषा ले सन्देश दिवस का जब-जब आगे आई,
तब-तब सन्ध्या भी रजनी का शुभागमन ले धाई।
निशि-वासर की होती रहती है यों आँख-मिचौनी,
जैसे साथ खेलती रहती होनी के अनहोनी।
रविकर शशिकर जीभर खाते यद्यपि यहाँ अँधेरा,
किन्तु अँधेरे का भी टूटा कब अटूट यह घेरा!!

● श्री राजेन्द्र प्रसाद पाठक

तयोर्नवशमागच्छेत्

राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अन्तःकरण के विकार तो हैं पर धर्मी के साथ धर्म का नित्य सम्बन्ध रहता ही है। धर्मी के बिना धर्म और धर्म के बिना धर्मी नहीं रह सकता। सूर्य रूपी धर्मी का धर्म है उष्णता प्रदान करना, जिससे उसका नित्य सम्बन्ध है। काम, क्रोध आदि विकार साधारण मनुष्य में भी हर समय नहीं रहते। साधन करने वालों में कम होते हैं और सिद्ध पुरुष में सर्वथा ही नहीं होते हैं। अतः यदि ये विकार अन्तःकरण के धर्म होते तो हर समय एकरूप में रहते और अन्तःकरण रूपी धर्मी के रहते हुये भी नष्ट नहीं होते,अतः ये राग-द्वेषादि आने-जाने वाले (आगन्तुक) विकार हैं। बताया कि इन राग-द्वेषादि विकारों को सर्वदा त्याग देना ही मनुष्य का परम धर्म है।

प्रत्येक प्राणी में गुण के साथ-साथ अवगुण भी होते हैं। गुणों की प्राप्ति के लिए जीव सत्संग करता है और अन्ततोगत्वा अवगुणों से छुटकारा पा जाता है। परन्तु सत्संग के साथ-साथ कुसंग का होता रहना, संयम के साथ असंयम का होता रहना, साधन प्राप्ति के साथ-साथ असाधन का होता रहना साधक की साधना में अपूर्णता का द्योतक माना गया है। इस प्रकार दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव आदि सब असत् के सम्बन्ध से ही होते हैं। दुराचारी से दुराचारी पुरुष में भी सद्गुण सदाचार का सर्वथा अभाव नहीं होता क्योंकि सत् (परमात्मा) का अंश होने से जीवमात्र का सत् से प्रत्येक अवस्था में नित्य सिद्ध सम्बन्ध है। अतः श्री भगवान ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि—

असंशयं महाबाहो
मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु
कौन्तेयवैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता ६।३५)

अर्थात् "हे महाबाहो! यह मन बड़ा चञ्चल है और इसका निग्रह करना भी बड़ा कठिन है—यह तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है। परन्तु हे कुन्तीनन्दन! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसका निग्रह किया जाता है।

अर्जुन की माता कुन्ती बहुत विवेकवती तथा भोगों से विरक्त रहने वाली थी। कुन्ती ने भगवान श्रीकृष्ण से विपत्ति का वर माँगा था कि—"हे जगद्गुरु! हमारे जीवन में सर्वदा पद-पद पर विपत्तियाँ आती रहें जिससे हमें पुनः संसार की प्राप्ति न कराने वाले आपके दर्शन मिलते रहें।" यथाः

विपदः सन्तु नः
शाश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं
यत्स्याद पुनर्भव दर्शनम्॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण १।८।२५)

इसीलिए योगयोगेश्वर अनन्त श्री भगवान अर्जुन को संकेत करते हैं कि हे अर्जुन तू भी अपनी माता की तरह संसार से विरक्त होकर परमात्मामें लग और मनको भी संसार से हटाकर परमात्मा में लगाओ। इस प्रकार अभ्यास के दो भेद जाने जा सकते हैं— अपने लक्ष्य तथा ध्येय के प्रति मनोवृत्ति को लगाना तथा दूसरा कुछ भी चिन्तन आ जाय उसकी उपेक्षा करना। यह तभी सम्भव है जब यह बात समझ में आ जाय कि—संसार प्रतिक्षण बदलता है और स्वरूप कभी भी तथा किसी क्षण बदलता नहीं। अतः संसार भी हमारे साथ नहीं है और हम (हमारा शरीर) भी संसार के साथ नहीं है क्योंकि इस शरीर के साथ-साथ बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था तक हमारे साथ नहीं है यहाँ तक कि अपना कहलाने वाले कुटुम्बी, सम्बन्धी आदि अनुकूलता की इच्छा तक ही सीमित है और शक्ति, सामर्थ्य, योग्यतादि भी साथ देने वाले नहीं है। इस प्रकार के चिन्तनाभ्यास से संसार के भोगों से राग जितना हटेगा, मन उतना ही परमात्मा में लगेगा।

संसार का राग सर्वदा हटने पर, मन में संसार का राग-पूर्वक चिन्तन नहीं होगा तथा द्वेष भी मूलतः समाप्त हो जावेगा। इस राग द्वेषादि के अन्तर्गत ही पूर्वकर्मों के अनुसार आने वाली अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति का नाम ही सुख तथा दुःख है अर्थात् प्रारब्ध के अनुसार शरीर, इन्द्रियाँ आदिके अनुकूल परिस्थिति का नाम सुख इसके लिए प्राप्त विपरीत परिस्थिति का नाम दुःख है किन्तु गुणातीत मनुष्य इन दोनों में सम रहता है क्योंकि ज्ञान कभी दोषी नहीं होता बल्कि विकार ही दोषी होते हैं। मान और अपमान होने पर शरीर की मुख्यता होती है। गुणातीत मनुष्य का शरीरके साथ तादात्म्य नहीं होता। अतः कोई उसका आदर करे या अपमान करे, इन सब क्रियाओं का उस पर कोई असर ही नहीं पड़ता।

निन्दा-स्तुति और मान-अपमान इन दोनों ही क्रियाओं में गुणातीत मनुष्य सम रहता है इन दोनों परस्कृत क्रियाओं का ज्ञान होना दोषी नहीं है बल्कि निन्दा और अनादर में दुःखी होना तथा स्तुति और मान में हर्षित होना दोषी है क्योंकि ये दोनों ही प्रकृति के विकार है। गुणातीत पुरुष को ऐसा नहीं लगता है क्योंकि उसे इन निन्दा स्तुति का ज्ञान ही नहीं होता बल्कि उसे इस बात का ज्ञान तो होता है परन्तु गुणों से सम्बन्ध विच्छेद होने के कारण ही नाम और शरीर के साथ सम्बन्ध (न सोचते) न रहने से वह सुखी या दुःखी नहीं होता तथा दूसरी ओर जिस तत्व की तरफ वह समर्पित है उस तत्व में ये विकार है ही नहीं। वह तत्व तो गुणरहित होते हुए भी निर्विकार है।

अतः श्री भगवान पुनः परिसान्त्वना देते हैं कि—"जो शत्रु और मित्र तथा मान-अपमान में सम और शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता) तथा सुख-दुःख में सम है एवं आसक्ति रहित है और जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला, मननशील, जिस किसी प्रकार से भी (शरीर का निर्वाह होने में) सन्तुष्ट, रहने के स्थान और शरीर में ममता-आसक्ति से रहित और स्थिर बुद्धि वाला है वह भक्तिमान मनुष्य मुझे प्रिय है।" यथा—

"समः शत्रौ च मित्रे
च तथा मानापमानयोः ।

दो गद्य गीत

सुश्री दिनेशनन्दिनी डालमिया

नन्दी-सा धवल कैलास देवाधिदेव भगवान महेश्वर का वासस्थान होने से, पर्वत-श्रेष्ठ हिमाचल पतित-पावनी भगवती भागीरथी का उद्गम स्थान होने से और सुमेरु ब्रह्माण्ड का मेरुदण्ड होने से लोकों में प्रसिद्ध हैं, किन्तु नीलम से नगराज श्री गोवर्धन का महात्म्य तो नीलोज्ज्वल श्रीकृष्ण के धराधाम में चिन्मय विग्रह रूप होने से है।

इनके शिखर पर देवाङ्गनायें, देवता, विद्याधर, किन्नर, सिद्ध और महात्मा विचरते हैं और इनके मञ्जुल निकुञ्जों और कन्दराओं में श्री राधा माधव का नित्य-विलास होता है जिसके प्रभाव से यहाँ के विशुद्ध वातावरण में साँवरे की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष झाँकी होती है।

त्रिलोकी के आश्रयभूत नन्दनन्दन ने इसको अपना लीला-छत्र बना प्रलयंकर वृष्टि में व्रज की रक्षा कर पुरन्दर का दर्प चूर्ण किया था, और आज भी ये भक्तों के छत्र बने हुए हैं।

ये प्रत्येक तीर्थयात्री को जो श्रद्धापूर्वक इनकी प्रदक्षिणा करता है मुक्ति का वरदान देकर कृतार्थ करते हैं :

समस्त ऐश्वर्य के मध्य भी परमहंस गिरिराज जलकमलवत् रहकर अमरत्व पुत्रों को प्रेमाभक्ति की दीक्षा देकर श्रीकृष्ण-सान्निध्य प्राप्त कराते हैं! गिरिराजधरण की जय!!

●

गोवर्धन की गोद में शीश रखकर आकाश सोया हुआ है और शिशिर की धुन्ध मेरी दृष्टि को पर्वत के परे देखने से रोकती है।

मानसी गंगा की सिकुड़ी-सिमटी धारा एक क्षीण रेखा-सी प्रतीत होती है।

पर्वत की दीर्घ पगडण्डियों पर किसी का पदचाप नहीं सुनाई देता है :

मेरी हृदय की मरुस्थली का विस्तार अहंकार और आत्म प्रवञ्चना के घटाटोप अंधकार से ढका हुआ था।

और मेरा मन किसी अज्ञात अन्धकूप के अन्तराल में उतर रहा था।

काश, मेरी पर्णकुटिया में एक टिमटिमाता दीपक भी होता तो मैं इन छाया-भूतों को मार भगाती।

राधाकुण्ड के उस पार से आते हुए वेणु गीत ने कहा, "गहन अन्धकार और मृत्यु मौन से भयभीत न हो क्योंकि मुक्ति-मार्ग के पथिक को इन खन्दकों को पार कर ही आगे बढ़ना पड़ता है है।

शीतोष्ण: सुखदु:खेषु
समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्य निन्दा स्तुतिर्मौनी
संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमति-
र्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥
(गीता १२।१८।१९)

अतः बोधगम्य है कि मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं में प्रीति, तृप्ति और संतुष्टि की केवल प्रतीति होती है वास्तव में तो उसे सच्ची प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि नहीं होती इसीलिए बताया है कि उन दोनों (उपर्युक्त) (तपो) के वश में होकर संसार में नहीं रहना चाहिए (न वशम् अगच्छित)।

निजानुभूति :

अन्तर्यामी श्री गुरुदेव

● आचार्य चिन्तामणि पाण्डेय

सन् १९७६ई० में योग-साधन आश्रम कानपुरकी शाखा दिखलानेके लिए प्रातः ५ बजे कम्पनी बाग में श्री गुरुदेवजी आमन्त्रित थे। जहाँ लोग आसन करते थे, वहीं एक पत्थर की ऊँची शिला पर कम्बल बिछाकर उसके ऊपर मृगछाला बिछा दी गई थी। उनकी बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जा रही थी कि महाराज जी आसन पर आकर विराजमान हों और मैं आसन करवाना प्रारम्भ करूँ। पर आश्चर्य की यह बात हुई कि आसन पर हाथ रखने के बाद गुरुदेव भगवान ने हाथ से आसन हटा दिया और वहां आने पर वे उस पर नहीं बैठे बल्कि साधारण साधकों के साथ जमीन पर ही जहां टाट बिछा था, वे बैठ गये।

नारदानन्द के शिष्य तथा हमारे गुरु भाइयों को एक घण्टा उपदेश देने के बाद श्री सुरेशचन्द शर्मा के निवास स्थान पर वे आ गये। मैं गुरुदेव भगवान की सरलता की भूरि-भूरि प्रशंसा करता रहा। दो-तीन दिन बाद मुझे ज्ञात हुआ कि महाराज जी आसन पर क्यों नहीं बैठे? आसन प्रारम्भ करने से पहले मैं महाप्रभुजी को प्रणाम करता था तथा समाप्त होने पर उनके सम्मुख बैठकर सभी साधक नित्य यम-नियम की प्रतिज्ञा करते थे। महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज के स्वरूप का आसन बिछाकर जमीन पर ही आसीन करा देते थे। गुरुदेव भगवान स्वरूप को मस्तक से लगाकर हमारी तरफ संकेत करते हुए बोले—लल्ल! इनका सदैव आदर करना। किसी भी तरह इनका अपमान नहीं होना चाहिए। चूंकि प्रभुजी का स्वरूप भूमि पर था इसीलिए गुरुदेव भगवान जमीन पर बैठकर ही उद्बोधन करने लगे थे।

इसी क्रम में गुरुदेव भगवान की सर्वज्ञता एवं अन्तर्यामिता की बात याद आ रही है। सन् १९७२ ई० में दीक्षा लेने के बाद यह हमारी लालसा बनी रहती थी कि यथा सम्भव अधिक से अधिक गुरुदेव भगवान के पास रहूँ। सदैव कोई न कोई अलौकिक घटना घटती रहती थी। ६ फरवरी सन् १९८६ ई० के दो दिन पहले मैं श्री इन्द्रदेव मिश्र से कुछ बातें कर रहा था। भाई जी कुछ दुःखी थे। मुझ से बोले 'मुझे कई वर्ष दीक्षा लिए हुए हो गए पर गुरुजी मुझे पहचानते नहीं हैं। हर बार पूछते हैं लल्ला! कहाँ से आये हो?' इसके बाद मिश्रजी मुझसे बोले 'आपका नाम तो अच्छी तरह जानते होंगे।' मैंने उत्तर दिया, महाराजजी हमारा भी नाम नहीं जानते हैं, हाँ इतना अवश्य जानते हैं कि मैं उनका शिष्य हूँ तथा कानपुर से आया हूँ। इतनी वार्ता के बाद हम लोगों ने २ घण्टे बाद रामानुजाचार्य मार्ग पर स्थित आश्रम में प्रवेश किया। गुरुदेव भगवान के दर्शन गेट पर ही हो गये तथा विनोदी स्वभाव से वे बोले—आइये आचार्य चिन्तामणि पाण्डेय आप कानपुर से आये हैं। मैं ठीक बोल रहा हूँ कि नहीं? हम दोनों एक-दूसरे का मुँह देखने लगे तथा चरण स्पर्श करके अपने कैम्प में चले गए। ऐसी थी श्री गुरुदेव की अन्तर्यामी शक्ति। ★

चारु-चरित्र :—

परशुराम

(आचार्य भावे की दृष्टि में)

यह एक अद्भुत प्रयोगी लगभग पच्चीस हजार वर्ष पहले हो गया है। यह कोंकणस्थों का युग पुरुष है। माँ की ओर से क्षत्रिय और बाप की तरफ से ब्राह्मण। पिता की आज्ञा से उसने माँ का सिर ही काट डाला था। कोई पूछ सकते हैं, 'यह कहाँ तक उपयुक्त था ?' लेकिन उसकी श्रद्धा को शंका छू तक नहीं गई थी। 'निष्ठा से प्रयोग करना और अनुभव से ज्ञान प्राप्त करना', यही उसका सूत्र था।

परशुराम उस जमाने का सर्वोत्तम पुरुषार्थी व्यक्ति था। उसे दुखियों के प्रति दया थी और अत्याचारों से तीव्रतम चिढ़। उस समय के क्षत्रिय बहुत ही उन्मत्त हो गये थे। वे अपने को जनता का 'रक्षक' कहते थे लेकिन व्यवहार में तो उन्होंने कभी का 'र' को 'भ' में बदल दिया था। परशुराम ने उन अत्याचारी क्षत्रियों का घोर प्रतिकार शुरू किया। जितने क्षत्रिय उनके हाथ आये, उन सबको उसने मार ही डाला। 'पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाकर छोड़ूँगा', यह उसने अपना विरद बना लिया था।

इसके लिए वह अपने पास हमेशा एक कुल्हाड़ी रखने लगा। और कुल्हाड़ी से रोज कम से कम एक क्षत्रिय का सिर तो उड़ाना ही चाहिए, ऐसी उपासना उसने अपने ब्राह्मण अनुयायियों में जारी की। पृथ्वी निःक्षत्रिय करने का यह प्रयोग उसने इक्कीस बार किया। लेकिन पुराने क्षत्रियों को जान-बूझकर खोज-खोजकर मारने और उनकी जगह नये-नये क्षत्रियों का निर्माण करने की प्रक्रिया का फलित भला क्या हो सकता था ? आखिर रामचन्द्र जी ने उसकी आँखों में अंजन डाला। तबसे उसकी दृष्टि कुछ सुधरी।

तब उसने उस समय के कोंकण के घने जंगल तोड़-तोड़कर बस्तियाँ बसाने के रचनात्मक कार्य का उपक्रम किया। लेकिन उनके अनुयायियों को कुल्हाड़ी के हिंसक प्रयोग का चस्का पड़ गया था। इसलिए उन्हें कुल्हाड़ी का अपेक्षाकृत अहिंसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा। निर्धन को जिस प्रकार उसके सगे-सम्बन्धी त्याग देते हैं, उसी प्रकार उसके अनुयायियों ने भी उसे छोड़ दिया।

लेकिन यह निष्ठावान महापुरुष अकेला ही यह काम करता रहा। नैष्ठिक वन्यता का कारण बनने वाले आरण्यक प्रजा के आदि सेवक भगवान शंकर के ध्यान से वह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जंगल काटना, झोंपड़ियाँ बनाना, वन्य पशुओं की तरह एकाकी जीवन व्यतीत करने वाले अपने मानव बन्धुओं को सामुदायिक साधना सिखाना— इन उद्योगों में उस स्फूर्ति से काम लेने लगा। निष्ठावंत और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नहीं रहने पाती। परशुराम की अदम्य सेवावृत्ति देख कोंकण के वन्य निवासी पिघल गये और आखिर उन्होंने उनका अच्छा

साथ दिया। अपने आपको ब्राह्मण कहलाने वाले उसके पुराने अनुयायियों ने तो उसका साथ छोड़कर शहरों की पनाह ली थी; मगर उनके बदले वे नये अवर्ण अनुयायी उसे मिले। उसने उन्हें स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चार की शिक्षा दी। एक दिन परशुराम ने उनसे कहा, "भाइयो' आज से तुम लोग ब्राह्मण हो गये।"

राम और परशुराम की पहली भेंट धनुः भंग-प्रसंग के बाद एक बार हुई थी। उसी वक्त उसे रामचन्द्र जी से जीवन-दृष्टि मिली थी। उसके बाद इतने दिनों में उन दोनों की भेंट कभी नहीं हुई थी। लेकिन अपने वनवास के दिनों में रामचन्द्र पंचवटी में आकर रहा था। उसके वहां के निवास के आखिरी वर्ष में नागलाण की तरफ से परशुराम उससे मिलने आया था। जब वह पंचवटी के आश्रम में पहुँचा, उस समय रामचन्द्र पौधों को पानी दे रहे थे। परशुराम से मिलकर रामचन्द्र को बड़ा ही आनन्द हुआ। उसने उस तपस्वी और वृद्ध पुरुष का साष्टांग प्रणामपूर्वक स्वागत किया और कुशल-प्रश्नादि के बाद उसके कार्यक्रम के बारे में पूछा। परशुराम ने कुल्हाड़ी के अपने नये प्रयोग का सारा हाल रामचन्द्र को सुनाया। वह सुन रामचन्द्र ने उसका बड़ा गौरव किया। दूसरे दिन परशुराम वहां से लौटा।

अपने मुकाम पर वापस आते ही उसने उन नये ब्राह्मणों को राम का सारा हाल सुनाया और बोला,

"रामचन्द्र मेरा गुरु है। अपनी पहली ही भेंट में उसने मुझे जो उपदेश दिया, उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मैं तुम्हारी सेवा करने लगा। अबकी मुलाकात में उसने मुझे शब्दों द्वारा कोई भी उपदेश नहीं दिया। लेकिन उसकी कृति में से मुझे उपदेश मिला है। वही मैं अब तुम लोगों को सुनाता हूँ।"

"हम लोग जंगल काट-काटकर बस्ती बसाने का यह जो कार्य कर रहे हैं वह बेशक उपयोगी कार्य है। लेकिन इसकी भी मर्यादा है। उस मर्यादा को न जानकर हम अगर पेड़ काटते ही रहेंगे, तो वह एक बड़ी भारी हिंसा होगी, और कोई भी हिंसा अपने कर्त्ता पर उलटे बिना नहीं रहती, यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अब हम पेड़ काटने का काम खत्म करें। आज तक जितना कुछ किया, ठीक ही किया; क्योंकि उसी की बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था, वह अब 'सह्याद्रि' बन गया है। लेकिन अब हमें जीवनोपयोगी वृक्षों के रक्षण का काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए।"

यह कहकर उसने उन्हें आम, केले, नारियल काजू, कटहल, अनन्नास आदि छोटे-बड़े फलों के संरोपन की विधि सिखाई। उसे इसके लिए स्वयं वनस्पति-संवर्धन -शास्त्र का अध्ययन करना पड़ा और उसने अपने हमेशा के उत्साह से उस शास्त्र का अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्र में कई महत्वपूर्ण शोध भी किये। पेड़ों को मनोनुकूल आकार देने के लिए उन्हें व्यवस्थित काटने-छाटने की जरूरत महसूस कर उसने उनके लिए छोटे से औजार का आविष्कार किया। इस औजार को 'परशु' का नाम देकर उसने अपनी परशु-उपासना जारी रखी।

एकबार उसने अपनी समुद्रतट पर नारियल के पेड़ लगाने की क्रिया का एक सामुदायिक समारोह संपन्न किया। इस अवसर से लाभ उठाकर उसने वहां आये हुए लोगों के सामने अपने जीवन के सारे प्रयोगों और अनुभवों का सार उपस्थित किया। सामने पूरे ज्वार में

समुद्र गरज रहा था। उसकी तरफ इशारा करके समुद्रवत् गम्भीर ध्वनि में उसने बोलना आरंभ किया—

"भाइयो, यह समुद्र हमें क्या सिखा रहा है, इस पर ध्यान दीजिए। इतना प्रचंड शक्तिशाली है यह, परन्तु अपने परम उत्कर्ष के समय भी वह अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। इसलिए उसकी शक्ति हमेशा ज्यों-की त्यों रही है। मैंने अपने सारे उद्योगों और प्रयोगों में से यही निष्कर्ष निकाला है। छुटपन में मैंने पिता की आज्ञासे अपनी माता की हत्या की। लोग कहने लगे, 'कैसा मातृ-हत्यारा है!' मैं उस आक्षेप को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। मैं कहा करता, 'आत्मा अमर है और शरीर मिथ्या है। कौन किसे मारता है? मैं मातृ-हत्यारा नहीं हूँ, प्रत्युत पितृभक्त हूँ।"

"लेकिन आज मैं अपनी गलती महसूस करता हूँ। मातृवध का आरोप मुझे उस वक्त स्वीकार नहीं था, और आज भी नहीं है। लेकिन मेरे ध्यान में यह बात नहीं आई थी कि पितृभक्ति की भी मर्यादा होती है। यही मेरा वास्तविक दोष था। लोग अगर अचूक उतना ही दोष बताते तो उससे मेरी विचार-शुद्धि हुई होती। लेकिन उन्होंने भी मर्यादा का अतिक्रमण करके मुझ पर आक्षेप किया और उससे मेरी विचार-शुद्धि में कोई सहायता नहीं पहुँची।"

"बाद में बड़ा होने पर अन्याय के प्रतिकार का व्रत लेकर मैं जुल्मी सत्ता से इक्कीस बार लड़ा। हर बार मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं सफल हो गया हूँ, लेकिन प्रत्येक मर्तबा मुझे निश्चित असफलता ही नसीब हुई। रामचन्द्र ने मेरी गलती मुझे समझा दी।

अन्याय का प्रतिकार मनुष्य का धर्म तो है, लेकिन उसकी भी एक शास्त्रीय मर्यादा है, यह ज्ञान मुझे गुरु-कृपा की बदौलत प्राप्त हुआ।

"इसके उपरान्त मैं जंगल काटकर मानव-उपनिवेश बसाने के, मानव सेवा के कार्य में जुट गया, लेकिन आप जानते ही हैं कि जंगल काटने की भी एक हद होती है, इस बात का ज्ञान मुझे ठीक समय पर कैसे हुआ।

"अब तक मैं निरन्तर प्रवृत्ति का ही आचरण करता रहा पर आखिर प्रवृत्ति की भी मर्यादा तो है ही न? इसलिए अब मैं निवृत्त होने की सोच रहा हूँ। इसके मानी यह नहीं है कि मैं कर्म ही त्याग दूँगा। स्वतन्त्र नई प्रवृत्ति का आरंभ अब नहीं करूंगा। प्रवाह-पतित करता रहूँगा। प्रसंगवश आप पूछेंगे तब, सलाह भी देता रहूँगा।

"इसीलिए मैंने आज जान-बूझकर इस समारोह का आयोजन किया और अपना यह 'समुद्रोपनिषत्' या 'जीवनोपनिषद्', चाहे जो कह लीजिये, आपसे निवेदन किया है। फिर से थोड़े में कहता हूँ, पितृ-भक्ति की मर्यादा, प्रतिकार की मर्यादा, मानव सेवा की मर्यादा-सारांश सभी प्रवृत्तियों की मर्यादा—यही मेरा जीवनसार है। आओ, एक बार सब मिलकर कहें—

"ॐ नमो भगवते मर्यादायै।"

उड्डीयन बन्ध—प्रकार और फल

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृत।।

जिसमें बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना नाड़ी में उड़कर चला जाता है इसी कारण से योगियों ने इसे उड्डीयान नाम से बतलाया है।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते।।

महान पक्षी रूपी प्राणवायु जिस बन्ध से हमेशा उड़ा करता है। वही उड्डीयान संज्ञक है उसी विषय में बन्ध का स्वरूप बतलाते हैं हमेशा देहाकाश में गतिमान होने से प्राणवायु को महाखग बतलाया गया है।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।।

उदर में नाभि से ऊपर नकार से नीचे भी पश्चिमोत्तान अर्थात् पीछे की ओर आकर्षण करें। इसी को उड्डीयान बन्ध कहते हैं। यह मृत्यु रूपी हाथी को मारने के लिए सिंह के समान है। नाभि के ऊपर नीचे के दोनों भागों को खींचकर पीछे ले जाने को उड्डीयान कहते हैं।

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।।

हितोपदेष्टा गुरुओं ने इस उड्डीयान को सदास्वाभाविक बतलाया है क्योंकि प्राण वायु हमेशा सबके बाहर भी आती ही है। जो पुरुष हमेशा उड्डीयान का अभ्यास करते हैं वे वृद्ध भी तरुण के समान हो जाते हैं।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशय।।

नाभि के ऊपर तथा नीचे के भाग को प्रयत्न से पीछे की तरफ खींच लेवें ऐसे छः महीना अभ्यास करने से साधक मृत्यु को भी जीत सकता है। —योगी आत्माराम

डॉ० श्री रामस्वरूपजी आर्य

हठयोग–सूफी सम्प्रदाय में

सूफी सम्प्रदाय में हठयोग का विशेष महत्व है। राजयोग अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति तक पहुँचने में इसे परम सहायक माना गया है। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्र बतलाया गया है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र के योग को 'हठयोग' कहते हैं।

> हकारः कथितः सूर्यः
> ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
> सूर्याचन्द्रमसोर्योगात्
> हठयोगो निगद्यते ॥

इस श्लोक में सूर्य तथा चन्द्र शब्दों की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गयी है। एक व्याख्या के अनुसार सूर्य से तात्पर्य प्राणवायु तथा चन्द्र का अपान वायु से है। अतः प्राणा-याम द्वारा उक्त दोनों प्रकार की वायु का निरोध हठयोग है। दूसरे मत के अनुसार सूर्य इड़ा तथा चन्द्र पिङ्गला नाड़ियों का प्रतीक है। इस पर नियन्त्रण करके सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु को सचरित करना हठयोग कहलाता है। सूर्य और चन्द्रमा को नामान्तर से गंगा-यमुना भी कहा गया है, जो क्रमशः इड़ा और पिङ्गला के प्रतीक हैं।

सूफी-सम्प्रदाय के सुमेरु-मणि मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' यद्यपि एक प्रेम-काव्य है तथापि उसमें हठयोग का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। नागमती पद्मावती विवाद के प्रसंग में राजा रत्नसेन उन्हें सम-झाता है—

> तुम गंगा जमुना दुइ नारी,
> लिखा मुहम्मद जोग ।
> सेव करहु मिलि दुनहूँ,
> औ मानहु सुख भोग ॥
>
> (पद्मावत, दोहा ४५)

सूफी कवि उस्मान के अनुसार जब तक उस परम तत्व का ध्यान नहीं किया जाता, तब तक उसके दर्शन नहीं हो सकते। उस परम रूप का प्रतिबिम्ब हृदय में ही है। गुरु के बिना तो संसार में जीवन ही नहीं है। गुरु के वचनों को अञ्जन के रूप में आँखों में आंज लो, हृदय रूपी दर्पण को माँज लो, सांसारिक माया-जाल को भस्म कर दो, तभी उस परम तत्व के प्रतिबिम्ब के दर्शन हो सकेंगे—

> जौलों ध्यान धरै नहि कोई ।
> तौलों दरस न प्रापत होई ॥
> घट में परम रूप परछाहीं ।
> जा बिनु जग महं जीवन नाहीं ॥
> गुरु बचन चखु अंजन देहू ।
> हिया मुकुर मज्जन कर लेहू ॥
> माया जारि भसम कै डारो ।
> परम रूप प्रतिबिंब निहारो ॥
>
> (चित्रावली, पृष्ठ ६१)

सत नूर मुहम्मद उस परम ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अहं भाव के त्याग को आव-श्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि योग साधक

जिनको साधक ध्यानमग्न हो तपस्या करे, अभिमान त्यागकर हृदय से समर्पण करे तथा एकाकी रहकर सद्गुरु का शिष्यत्व ग्रहण कर अपने अन्तःकरण को निर्मल करे, तभी सोलह कलाओं वाले सूर्य का उदय होगा—

जब लगि है आपा महँ कोई ।
तब लगि ताको दरस न होई ॥
ध्यान लगावै करै तपस्या ।
तजै दर्प, चित देइ नमस्या ॥
ध्यान देय नित रहै अकेला ।
होइ सनेह गुरुन का चेला ॥
अन्तःकरन करै निरमला ।
उगै तबै रवि सोरह कला ॥

(अनुराग बाँसुरी, पृ० १४)

मलिक मुहम्मद जायसी ने भी परम प्रभु से एकत्व प्राप्ति हेतु द्वैत-भाव त्यागने की बात कही है—

एकहि तें दुइ होइ,
दुइ सौं राज न चलि सकै ।
बीच तें आपुहि खोइ,
मुहमद एकहि होइ रहु ॥

(अखरावट, सोरठा १५)

पद्मावत में नव इन्द्रिय-द्वारों के साथ दशम द्वारब्रह्मरन्ध्र का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। पद्मावती के प्रेम में अनुरक्त योगी रतनसेन को साक्षात् भगवान शिव इस प्रकार उपदेश देते हैं—

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया ।
पुरुष देखु ओही के छाया ॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे ।
जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे ॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझिआरा ।
औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा ॥
दसवँ दुआर गुपुत एक ताका ।
अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका ॥
भेदै जाइ कोइ वहि घाटी ।
जो लहि भेद चढ़ै होइ चाँटी ॥
गढ़ तर कुंड सुरंग तेहि माहाँ ।
तेहि महँ पंथ कहौं तोहि पाहाँ ॥
चोर बैठ जस सेंध सँवारी ।
जुआ पैंत जस लाव जुआरी ॥
जस मरजिया समुद धँस,
हाथ आ तब सीप ।
ढूँढ़ि लेइ सरग-दुआरी
चढ़ै सो सिंहल दीप ॥

(पद्मावत, दोहा २१२)

यहाँ सिंहलद्वीप की तुलना शरीर से की गयी है, जिसमें नव इन्द्रिय द्वार हैं। दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र गुप्त है, जिसकी चढ़ाई अगम्य है। उसको वही भेद पाता है, जो उसका रहस्य प्राप्त करके उस पर पिपीलिका गति (चींटी की चाल) से चढ़ता है। गढ़ के नीचे एक कुण्ड (कुण्डलिनी) का स्थान है। उसी से गढ़ के ऊपर जाने का मार्ग है। जैसे चोर सावधानीपूर्वक सेंध लगाता है, जुआरी दाँव लगाता है, गोताखोर सागर में डुबकी लगाता है, उसी प्रकार साधक को भी ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने के लिये एकाग्रचित होना पड़ता है।

जायसी ने सिंहलद्वीप के वर्णन में सात खण्डों की चढ़ाई का वर्णन किया है। ये सात खण्ड शरीरस्थ सात चक्र हैं। उस 'सरग-पंथ' पर पैर बढ़ाकर जीते-जी कोई नहीं लौटा—

कहौं सो तोहि सिंहलगढ़,
है खंड सात चढ़ाव ।
फिरा न कोई जियत जिव,
सरग-पंथ देइ पाँव ॥

(पद्मावत, दोहा २१५)

हठयोग के साध-साधन में कठोर साधनाओं के क्रम में गगन-दृष्टि अथवा उलटी

दृष्टि का भी उल्लेख किया गया है। जायसी ने दशम द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) को ताड़ के सदृश ऊँचा बताया है। वे कहते हैं कि जो दृष्टि को उलटकर देखता है, वही उसे सम्यक् रूपेण देख पाता है। वहाँ वही पहुँच पाता है, जो साँस को रोककर (प्राणायाम साधकर) जाता है—

दसवँ दुआर ताल कै लेखा।
उलटि दिस्ट जो लाव सो देखा॥
जाइ सो तहाँ साँस मन बंधी।
जस धँसि लीन्ह् कान्ह कालिंदी॥
(पद्मावत, दोहा २१६/१-२)

ज्ञान का उदय होने पर साधक की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और वह आत्म-चिन्तन में लीन हो जाता है।

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार—"अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्मिन्य-दन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।"

अर्थात् उस ब्रह्म की इस नगरी में एक सूक्ष्म कमलाकार स्थान है, उसके भीतर जो छोटा सा आकाश है, उसमें जो है, उसे उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसीकी जिज्ञासा करनी चाहिये। जायसी का वर्णन भी प्रायः इससे मिलता-जुलता है। उसके विचार में साढ़े तीन हाथ का शरीर रूपी सरोवर है। उसी में हृदय रूपी कमल विद्यमान है। वह नेत्रों के समीप है, किन्तु हाथों की पहुँच से दूर है—

अहुठ हाथ तन सरवर
हिया कँवल तेहि माँह॥
नैनन्हि जानहु निअरें
कह पहुँचत अवगाह॥
(पद्मावत, दोहा १२१)

सूफी साधना के अनुसार लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग में चार पड़ावों का उल्लेख मिलता है। ये चार चार पड़ाव हैं—(१) नासूत (२) मलकूत (३) जबरूत और (४) लाहूत। जायसी ने 'चारि बसेरे' द्वारा इनकी ओर संकेत किया है—

नवौं खंड नव पौरी
औ तहँ बज्र केवार।
चार बसेरे सौं चढ़े
सत सौं उतरै पार॥
(पद्मावत, दोहा ४१)

वे इन्हें ही 'करम धरम सत नेम' से भी स्पष्ट करते हैं—

दस महँ एक जाइ कोइ,
करम धरम सत नेम।
पद्मावत, दोहा १५८

सूफी साधना का चरम लक्ष्य है मोक्ष की प्राप्ति। जहाँ सदैव सुख का वास है, जहाँ मृत्यु का भय नहीं रहता। महान साधक ही इसे प्राप्त करते हैं—

तेहि पावा उत्तम कैलासू।
जहाँ न मीचु सदा सुखवासू॥
पद्मावत, दोहा १४६/५

जायसी आगे कहते हैं कि प्रभु-प्रेम के मार्ग में जब तक कोई स्वयं को चून (चक्की में पिसे आटे) के समान नहीं बना लेता, तब तक रंग में चमक नहीं आ सकती। ठीक उसी प्रकार जैसे पान में सुपारी और कत्था डाल दिया जाय, किन्तु जब तक उसमें चूना नहीं पड़ता तब तक रंग नहीं रचता—

पान सुपारी खैर जिमि
मेरइ करै चकचून।
तब लगि रंग न राचै,
जब लगि होइ न चून॥
पद्मावत, दोहा ३०८

● डॉ० विजयसिंह

हमारी अन्तःचेतना की मांग क्या है ?

सिद्ध सद्गुरु से दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात व्यक्ति के व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो जाता है। सद्गुरु परम सदाशिव रूप सद्गुरु की अनुकम्पा से जन्मजन्मान्तर का संस्कार नाश करना प्रारम्भ होता है। साधक शक्तिपात के फलस्वरूप, अलौकिक आध्यात्मिक अनुभूतियों से साक्षात्कार कर प्रथमतया अभिभूत हो उठता है जो बात उसके मन बुद्धि में कभी उजागर नहीं हो पायी थी वह सब अब शनैः-शनैः जाग्रत होने लगती है।

सूफी सम्प्रदाय में आत्मलय को 'फना' तथा ईश्वरीय व्यक्तित्व की प्राप्ति को 'बका' कहा गया है। ये दोनों अभाव और भावरूप एक ही अवस्था के दो स्वरूप हैं। अपना वास्तविक परिचय प्राप्त होने पर आत्मा मौन-रूप हो जाता है। यह मौनरूपता ही अभाव है। साथ ही वह एक ऐसा परम-रूप धारण कर लेती है, जिसका निनादी वही परम रूप है, जिसमें लीन होने पर वह मौन रूप हो गयी है। यह भावरूपता की उच्च स्थिति है। इसे 'पुराने लोग' (अनुभवी साधक) ही जानते हैं—

'हाल मकाल' दोऊ कहै,
क्योंरा बूझें कोय।
एक 'बका' एक 'फना' है,
पेम पुराने लोय ॥

शाह बरकतुल्ला—प्रेम प्रकाश, पृष्ठ २६

★

कभी-कभी यह सब सर्वथा अघटित घटित होने जैसा साधक को प्रतीत होता है। श्रद्धा-युक्त हृदय यह सब सहज स्वीकार कर लेता है, वहीं तार्किक मन नाना नये उहापोह को जन्म देता है। सत्य का साक्षात्कार, अन्तःकरण के निर्मित किये बिना कोई कर ही नहीं सकता। कदाचित् सिद्ध कृपा अथवा सद्गुरु संकल्प से क्षणमात्र हो भी जाय तथा साधक का अन्तःकरण संस्कार पाश से मुक्त नहीं हो, ऐसी अवस्था में साधक को भौतिक मानसिक क्षति उठानी पड़ जाया करती है। इसलिये उस साधक का अंतःजगत् उन्मिलन शनैः-शनैः ही उसकी पात्रतानुसार करते हैं।

साधना का सत्य भी अत्यन्त गूढ़ है। शान्त मन से और एकान्त परिवेश में स्वयं से पूछता हूँ, यदि अभी प्रभु प्रकट होकर तुम्हें अनेक जन्मान्तर के श्रम से विश्राम देने वाली समाधि वरों के लिये देवें, तो क्या स्वीकार करोगे ? प्रश्न अन्तःचेतना के आकाश में बार-बार उठता और विलीन होता रहता है। स्वीकारात्मक ध्वनि का आह्लाददायी निनाद कहीं से उठता नहीं प्रतीत होता। बहुत जोर देने पर शान्त मनन भंग हो जाता है। लोक व लोक की तात्कालिक समस्यायें जिनसे मैं अपने अस्तित्व को अभी जुटा हुआ सा पाता हूँ, वही प्रश्नों के उत्तर में झंकृत हो उठती हैं। यह झंकार स्थूल काया के तल से

सम्बन्धित है। निश्चय ही ये दुःख बीज इन्हीं हैं। इन संकृतियों को शिथिल करना ही मन्त्र का प्रारम्भिक कार्य है। शरीर के तल से उठने वाली माँग का अधिकांश भाग वासना ही है। जितना अधिक मन्त्र का जाप सिद्ध होता जाता है ये अंकार स्थूल में न उठकर सूक्ष्म शरीर से उठने लगती है। अब वासना का स्वरूप भी परिष्कृत हो उठता है। अधिकांशतः हम सभी साधक इन दो शरीरों के तल पर ही रुके रह जाते हैं। क्योंकि सुप्त संस्कारों के बीज, सूक्ष्म शरीर में भी विद्यमान हैं। अब जब उन्हें अन्तः कर्षा ध्यान द्वारा प्राप्त होती है, तो वे प्रफुल्लता से जाग्रत हो उठते हैं। साधक अपने अन्दर कभी कितना जघन्य भावों का रेलपेल उठता देखता है और कुछ समय पश्चात् उदात्त भावों के भावावेश का ज्वार अनुभव करने लगता है, तब सृष्टि का रहस्य कुछ-कुछ उसे अपने अन्दर ही से बाहर होता भासित होता है।

लोक कथाओं और पौराणिक गाथाओं में ऐसे तमाम वर्णन हैं, जो मनोरंजक होते हुये कहीं अधिक साधक को प्रबोध देने वाले हैं। "सन्त हृदय नवनीत समाना"। औरों का भी पर दुःख ताप देख सन्त द्रवित हो उठते हैं। परन्तु योगी ईश्वर बाध्य होते हैं। वे ऐसे नहीं हैं, उनका कार्य-कारण प्रयोजन ईश्वरीय कार्य जैसा ही है। रंचमात्र मोह-माया उनके अन्तःतल का स्पर्श नहीं करता, परन्तु वे कर्म में महा आसक्त प्राणियों की तरह आचरण करते हुये भी दीख सकते हैं। श्रीमद्भागवत में योगेश्वर श्रीकृष्ण चरित्र साक्षी है, इस कथन का। एक समय में सन्त नारद जी परमात्मा से विह्वल होकर कहते हैं—प्रभो! आपकी लीला ही सम्पूर्ण सृष्टि है, जीव अत्यन्त दुःखी हैं। आप उनके लिये दुर्लभ हैं। जबकि वे आपके ही अंश हैं। यह दुःख समष्टि का मेरे अन्तः को अत्यन्त मलिन कर रहा है। हे अहैतुकी कृपानाथ! आप सभी जीवों को अपना लें और वैकुण्ठ वास देने की कृपा करें। देवर्षि के ऐसे भाव सुन कर—परम नारायण अति प्रसन्न हो नारद को साथ लेकर भूमण्डल पर आते हैं। सामने एक मलिन तालाब में शूकर क्रीड़ारत है। नारद से प्रभु ने कहा—जाओ! इस शूकर से कहो मैं उसे वैकुण्ठ वास देना चाहता हूँ। शीघ्रता करो, उसे अभी मैं वैकुण्ठवास दे दूँगा बिना उसके कर्म-संस्कारों को विचारे हुये। श्री नारद की अन्तःचेतना वैकुण्ठ का अर्थ जानती है।

वे अति विश्वाससे शूकर के पास जाकर यह हर्ष समाचार सुनाते हैं। शूकर को उनका समाचार जानकर कोई हर्ष नहीं हुआ। उसने पूछा—क्या वैकुण्ठ में भी ऐसे (तालाब) मुझे बैठने के लिये मिलेंगे? कहना नहीं होगा कि देवर्षि का सारा भावावेश उतर गया होगा। उस शूकर को वैकुण्ठ धाम के सुख का उपदेश करते रहे, परन्तु उस शूकर ने वैकुण्ठ जाना स्वीकार नहीं किया।

चेतना के परिष्कृत एवं अपरिष्कृत तल का कितना मार्मिक चित्रण है यह। वहीं कृष्ण-द्वैपायन व्यास एक कीट जो मृत्यु भय से भागा जा रहा था, उसे चलते-चलते प्रबोधित करते रहे, उसने भी पहले शूकर की तरह अपने योनिगत सुख की और दुःख की बात कही। परन्तु भाव भावना तल से नहीं कर्म साधना के तल से। भगवान वेदव्यास ने उसे आश्वस्त किया कि तुम इस योनि के शरीर का त्याग करो। हम तुम्हें अन्य संस्कारगत प्राप्त योनिगत शरीरों में भी दर्शन देकर

तुम्हारा कल्याण करेंगे। और साथ ही आज की घटना की अमीच स्मृति तुम्हें हर जन्म में बनी रहेगी। वह कीट-पशु योनि से निकलता हुआ दो तीन जन्मों बाद मानव शरीर पाता है। हर योनि में उसे भगवान व्यास प्रबोधित करते रहते हैं। उनके कृपा प्रसाद से शनैः-शनैः उसकी चेतना का तल बदलता जाता है। उच्चतर चेतना के लिए उसी तल का शरीर भी चाहिए। अतः कीट को मृत्यु के पश्चात् क्रमशः विकसित चेतना वाले काया प्राप्त होते रहे। अन्ततोगत्वा मनुष्य में भी शूद्र, वैश्य, क्षत्री राजकुमार और ब्राह्मण होकर दस जन्मोंके पश्चात् आत्मकामी मैत्रेय ऋषि हुये। यहाँ उस कीट को समाधि जनित महा-चैतन्य लाभ प्राप्त हुआ।

अतः समाधि तक पहुँचने के लिए साधना साधक का स्वभाव बन जाना चाहिये। ऐसा होने पर भी यह नहीं मान लेना कि कुछ वर्षों में ही परम सिद्धित्व एवम् महाचैतन्य भाव का सहज ही उदय हो जायेगा। संस्कारों का कोटिक जन्मों का लेप साधना की सघनता से विलोपित होने लगता है। परमकृपालु सद्गुरु अपने साधक वृन्द को प्रतिपल उच्च से उच्चस्तर में स्थापित करते रहते हैं जिससे मृत्यु के समय उच्च मनस्भावों की प्राप्ति हो। प्राण उच्चस्तर तल पर सहज प्रतिष्ठापित हो जाते हैं जिससे सुखद मृत्यु भविष्यगत नूतन जन्म को अभ्युदयदायी बनाता है। गीता में स्वयं प्रभु ने कहा है—अनेक जन्म संसिद्ध ....

योग दर्शन में स्पष्ट रूप से साधना का एक क्रम बताया गया है। यह क्रम निश्चित ही साधारण से साधारणतम साधक को उच्च चैतन्य का लाभ कराने में सक्षम होता है। क्रियायोग हो अथवा अष्टांग योग दोनों से साधक शनैः-शनैः अन्तर जगत में गहरे बैठता ही जाता है। तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानि क्रियायोग। अष्टांग योग, यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि है। क्रियायोग उनके लिए है, जिनमें निष्ठा की कमी नहीं है। शरीर स्वस्थ है। मन स्वस्थ है। हृदय ईश्वर के प्रति समर्पण के हेतु उद्यत रहता है। ऐसे लोगों से तप-स्वाध्याय बन पाता है तथा परिणाम स्वरूप ईश्वर समर्पण हो ही जाता है। मीरा, नरसिंह मेहता, अथवा मध्यकाल के सभी सन्तों की जीवन-गाथा कमोबेश क्रियायोग द्वारा समाधि व ईश्वर साक्षात्कार पाने का साधन रहा है। नामदेव, ज्ञानदेव, कबीर, सूर, तुलसी, दादू, नानक आदि सभी इसी क्रियायोग के ही फल स्वरूप अपने स्वरूप स्थिति की पहचान पा सके थे।

परन्तु आज के भौतिक वादी युग मे बहुधा लोग तर्क प्रधान बुद्धि वाले हैं। सदैव तम-रज ग्रसित ही हैं। हम जैसों के लिये भी उर्ध्व-चेतना का द्वार खुला है, अष्टांग योग के पालन द्वारा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार के द्वार कठिन से कठिन संस्कारों से आसन्न व्यक्ति भी मानस एकाग्रता को अवश्य ही उपलब्ध करके अन्तः राज्य में धारणा, ध्यान व समाधि रूप परम चैतन्य की प्राप्ति कर सकता है।

साधना का उच्च परिणाम ऋतम्भरा की प्राप्ति है, जिसे हम सत्य दर्शन की संज्ञा दे सकते हैं। इसके दृढ होने पर तात्पर्य यह है कि बुद्धि सत्य को ही स्वीकार करे, प्रकृति अन्य आवरण युक्त मुद्राओं को भली भांति जानने के कारण स्वभाव से ही उसका परि-

त्याग करे। ऐसी अवस्था में साधक सत्यदर्शी होता है। सत्य दर्शन के पश्चात् उसे आत्म-दर्शन इसके पश्चात विशिष्ट परम चैतन्य परमात्म दर्शन होता है।

अपने शान्त मनस की अवस्था में कोई भी देख सकता है कि उसके अन्दर उस समय कितनी आध्यात्मिक भूख है अथवा उसके उस समय की चेतना की मांग क्या है? वैराग्य, विशिष्ट आध्यात्मिक भूख का ही नाम है। 'वशीकार संज्ञा वैराग्यम्'। इस भूख के उदय होने पर संसार का कोई भी प्रलोभन साधक को डिगा नहीं पाता। इसी कारण प्रतिभा ज्ञान उदय होता है। संसार के मायिक प्रपंचों का रहस्य खूब भली प्रकार समझ में आ गया होता है। उच्च चैतन्य की प्राप्ति के लिए मन ही क्यों? तन की प्रत्येक चैतन्य कोशिकायें व्याकुल हो उठती हैं। अपनी यथार्थ पहचान को जानने के लिए। ऐसी अवस्था में ही ऋत का प्रकाश जीव को कृतार्थ करने हेतु उदय हुआ करता। महात्मा बुद्ध, ईसा तमाम सन्त ज्ञानी जिन्होंने इस क्रान्ति को अपने अन्दर घटितहोते देखा, उन्होंने आगे कहा है—

ऐ गृहकारक! अब तुझे मैंने देख लिया है अब और गृह का निर्माण तू नहीं कर सकेगा।' अथवा अबलौं नसानी अब ना नसैहों। सत्य-दर्शन के पश्चात ही, उर्द्ध-चेतना के विकास का विनाश लौकिक-पारलौकिक कारणों से नहीं हो पाता। इसके पूर्व की अवस्थाओं को क्लिष्ट संस्कारों की रेल-पेल तहस-नहस कर सकती है।

सम्पूर्ण प्राण से साधना सधती है। उठे हुए चित्त, बटी हुई निष्ठा, अपूर्ण समर्पण से समाधि नहीं मिल सकती। समाधि के लिए हर तल पर तैयारी की जाती है। समाधि के लिये चित्त का जिज्ञासा का भरा हुआ होना आवश्यक है। योगदर्शन का कथन है 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' यह दीर्घकाल अनेक जन्म संसिद्धि की ओर भी इशारा करता है। परन्तु दूसरी ओर योग स्वयं के लिये बड़ा ही ठोस आधार भी देता है पौराणिक कथा है—एक साधक कठिन तप करता हुआ वर्षों से निरन्तर ईश्वर की आराधना में लगा है। उसका मन व्याकुल है, ईश्वर दर्शन के लिए। एक दिन ऋषिश्व' नारद उधर आते हैं। वह तपस्वी बड़ी आशा से उनसे पूछता है—हे देवर्षि मुझे ईश दर्शन कब होगा? देवर्षि उसके संस्कारों को अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर कहते हैं अभी ईश-दर्शन होने में देरी है। तुम्हें दो जन्मों के पश्चात् ईश-दर्शन अवश्य होगा। हाय! कैसी हताशा उसके मन में घर कर गयी। दो जन्म अभी और लेने होंगे। यह कैसा है, मेरे कठिन तपस्वी होने का कोई विशेष अर्थ ही नहीं। पुरुषार्थ के अहंकार को चोट लगी। तब वह छोड़-छाड़कर सामान्य जीवनकी ओर अग्रसर हो उठा। वहीं एक निषाद ने ब्रह्मर्षि से पूछा—प्रभो! मुझे ईश दर्शन कब होंगे, मैं तो पतित हूं। क्या मुझे कभी ईश-दर्शन होगा अथवा नहीं। देवर्षि उसके संस्कारों का साक्षात्कार करके बोले इस सामने के वृक्ष में जितने पत्ते हैं, तुम्हें ईश्वर-दर्शन उतने जन्मों के पश्चात् होगा। वह निषाद परम प्रसन्न हो नृत्य करने लगा। उसका तन, मन पुलकित हो उठा यह सोचकर कि वृक्ष के पत्ते तो पर मित हैं अधिक हुये तो भी क्या हुआ? मुझे ईश दर्शन मिलेगा तो, आज से मैं कोई दुराचरण नहीं करूंगा। ऐसी प्रतिज्ञा करता है। कहा जाता है, कि उसके उत्साह से देवर्षि के मन में बड़ा अहंकार जगा। वे तो भगवान के मन ही हैं। अतः उनके संकल्प से उसे उसी

आत्मसाक्षात्कार की ओर

अतः हे मैत्रेयी। आत्मा ही दर्शन करने योग्य अर्थात साक्षात्कार का विषय बनाने योग्य है। यह सर्वप्रथम श्रवण करने योग्य, तत्पश्चात चिन्तन अर्थात मन लगाकर सोचने योग्य है और विषय से ध्यान करने योग्य हैं। आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान होने पर, निश्चय ही अन्य सब कुछ का ज्ञान हो जाता है।

क्षण से दिव्यानुभव जारी हो गये। सिद्धानुकम्पा से क्या असम्भव है। परन्तु कृपा के लिये भी कुछ वैसी करनी होनी चाहिये। कृपा-कृपा कहने से कृपा का संचार नहीं होता।

सबसे महत्वपूर्ण कृपा तो स्वयं का स्वयं पर आत्म कृपा ही है। मानव की चेतना सहज प्रकृति आनन्द भोगी है। आत्मा का यही स्वरूप है। सबसे अधिक अपनत्व अपने में ही होता है। आनन्द प्राप्ति की छटपटाहट ही हर व्यक्ति की मौलिक चेतना की माँग है, यह अन्य क्रियाओं में निरर्थक आत्मान्वेषण के रूप में दृष्टिगत होती है। सदात्मा अविनाशी अव्यय है, अमर है। अतः मानव जब उसको पहचानता है तब एक अव्यय; नित्य आनन्द का भागी बन जाता है। और वह अमर हो जाता है। इस माँग की पूर्ति योग द्वारा ही सम्भावित है। योग ही दिव्य अविनाशी जीवन है।

●

उपर्युक्त से सिद्ध है कि हमें अपने जीवन काल में ही दृढ़ विश्वास कर लेना चाहिए कि हम केवल एक शारीरिक ढांचा ही नहीं बल्कि इस शरीर के दो अलग-अलग अवयव हैं—

१. अमर, नित्य शुद्ध, बुद्ध आत्मा तथा
२. मरण-धर्मा शरीर।

जैसे किसी भी पक्षी को उड़ने के लिए दो पंख चाहिए, उसी प्रकार परिश्रमयुक्त एवं तपोमय, सत्यवादिता से परिपूर्ण स्वच्छ जीवन ही ज्ञान प्राप्ति का अनिवार्य साधन है। शरीर साधन है और आत्मा का दर्शन ध्येय है। तो आइए हम अपने जीवन काल में ही शरीर रूपीसाधन से आत्मरूपी साध्य को सिद्ध कर लेवें। इस मनोरथ की पूर्ति के लिये हमें ऊपर कथित यजुर्वेद अनुमोदित 'ह्विताम त्वा' के सुनहरी नियम को अपने जीवन में अपनाना होगा जिससे हमारे लोक और परलोक दोनों सुधरें। तो फिर यह कैसे होगा?

कोई बाह्य खोज नहीं करनी होगी—

तिलेषु तल दधिनीव सर्पिरापः
स्रोतस्सु अरणीषु चाग्निः।
एवमात्मत्मनि गृहृतेऽसौ,
सत्येनं तपसा योऽनुपश्यति॥

(श्वेताश्वतर उप १।१५)

'जैसे तिलों में तेल, दही में घी स्रोतों में जल तथा अरणियों में अग्नि सदा विराजमान

होते हैं, उसी प्रकार आत्मा में ही आत्मा को सत्य के परिपालन एवं तपस्या द्वारा (मानव) ग्रहण करता है।' इन उदाहरणों से भी स्पष्ट है कि आत्मा हमारे अन्दर हाजर नाजर होती हुई भी, हमारे अज्ञान तथा दुर्गुणों के कारण नजर नहीं आती। इसलिए हमें अपने जीवन को सत्य तथा तप के द्वारा निर्मल बनाना होगा ताकि हम आत्मानुभूति के योग्य बन सकें। तैत्तिरीय आरण्यक (१०।८) में ऋत (नेकी), सत्य, वेदों का सुनना, विषय भोगों से विरक्ति, दान एवं यज्ञ करने को तप कहा गया है।

समस्त जीवन नितान्त पवित्र होना पूर्वापेक्षित है—

इस सन्दर्भ में मुण्डकोपनिषद् का एक महत्वपूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा,
नान्यैर् देवैः तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वम्,
ततस् तुतं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥
(३।१।८)

"(यह आत्मा) न नेत्र से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से ही। ज्ञान के प्रसाद अर्थात् प्रकाश से जब (मानव) विशुद्धचित्त हो जाता है, तभी वह ध्यान करने पर उस निर्मल एवं पूर्ण ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।"

उपर्युक्त मन्त्र में आत्मबोध की प्राप्ति के लिए निम्न दो पूर्वापेक्षित शर्तें निर्धारित की गई हैं—

(क) ज्ञान के प्रकाश अथवा स्वच्छता से (साधक की) प्रकृति का सर्वथा शुद्ध होना, तथा

(ख) तत्पश्चात् उस निरवयव एवं अखण्डित (आत्मा) का ध्यान करने से उसके दर्शन होना।

अब प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान क्या है और उसका प्रसाद क्या है?

इस सन्दर्भ में ज्ञान शब्द का अर्थ है—"मोक्ष विषयक बोध अथवा समझ"। प्रसाद शब्द का अर्थ है—"प्रकाश, निर्मलता, स्वच्छता अथवा मोह आदि से विकार रहित होना।" इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र में लिखे गये—"ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्त्वः" शब्दों का अर्थ हुआ कि जब साधक काम, क्रोध, मोह इत्यादि अवगुणों का मन, वाणी और कर्म से परित्याग करके निष्पाप एवं विशुद्ध अन्तःकरण वाला होकर मोक्ष-विषयक अन्तर्ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है, तो केवल तब ही उसे निष्कल (निष्क्रिय), शान्त, निरंजन, अद्वितीय अथवा शरीर रहित (आत्मा) का ध्यान करने से आत्मबोध होगा। आत्मा की प्राप्ति का अर्थ आत्मा की शक्ति को अपने अन्दर प्रकट करना है।

ऐसे ही अर्थ वाला कठोपनिषद् का एक मन्त्र नीचे लिखे अनुसार है—

अणोरणीयान् महतो महीयान्,
आत्मास्य जन्तोर् निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको,
धातुप्रसादान् महिमानमात्मनः॥
(१।२।२०)

"सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और महान से भी महत्तर, यह आत्मा जीव की हृदयरूपी गुफा में स्थित है। अपने मन तथा इन्द्रियों की स्वच्छता से निष्काम पुरुष आत्मा की महिमा को देखता है और शोकरहित हो जाता है।"

उपर्युक्त मन्त्र के चार भाग हैं। पहले भाग में आत्मा को अणु से अणुत्तर और महान से भी महत्तर कहा गया है। इसका कारण यह है कि संसार में जो कुछ छोटी और बड़ी वस्तुएँ हैं, वे सब नित्यस्वरूप आत्मा की सत्ता से युक्त होती हैं। आत्मा का इन वस्तुओं से वियोग हो जाने पर, वे सत्ता-शून्य हो जाती हैं। इस प्रकार आत्मा छोटे से छोटे एवं बड़े से बड़े सभी भूतों में विद्यमान होने के कारण उनके परिणाम वाली होती है।

इसी मन्त्र का द्वितीय चरण कहता है कि यह आत्मा जन्तु की हृदय रूपी गुफा में छिपा हुआ है। यह गुफा अत्यन्त आन्तरिक और सूक्ष्म है, जहाँ से आत्मा की ज्योति प्राणिमात्र की प्रत्येक क्रिया को उद्भाषित करती है तथा प्राणियों के प्रत्येक अंग में संचरित होती है।

उपर्युक्त मन्त्र का तीसरा पाद कहता है कि आत्मा का साक्षात्कार "अक्रतु" अथवा कामनाओं से रहित पुरुष (ही) करता है एवं इसके दर्शन करने पर सर्वथा शोकरहित हो जाता है। इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार के लिए पहली अनिवार्य शर्त है कि साधक इच्छाओं, वासनाओं से रहित हो। क्या मानव जीवन कभी कामनाशून्य हो सकता है? भूख, प्यास वस्त्र एवं मकान की अपेक्षा तो न्यूनाधिक मात्रा में सभी मानवों को रहती है और सदा रहेगी। तो फिर सर्वथा इच्छा-रहित होना असम्भव सा जान पड़ता है। तो फिर ऐसा साधक जिसकी भूख, पिपासा इत्यादि की मूल आकांक्षाएँ लोप न हुई हों, वह उपरोक्त मन्त्र में लिखे "अक्रतु" की परिभाषा में नहीं आ सकता? 'अक्रतु' शब्द केवल अशुभ संकल्प-विकल्पों तथा कार्यों के त्याग की ओर इंगित करता है न कि जीवन से पूर्ण संन्यास एवं कर्म शून्यता को। इस प्रकार निष्काम भावसे कर्त्तव्य तथा शुभ कर्मों को करने वाला कर्मयोगी सदैव 'अक्रतु' ही माना जायेगा। ऐसा कर्त्तव्यनिष्ठ मानव कर्मों के फल से न बन्धता हुआ अनिवार्य रूप से शोकरहित अवस्था को प्राप्त होगा।

इस मन्त्र का चौथा चरण कहता है कि निष्काम पुरुष 'धातुप्रसादात् आत्मनः महिमानं पश्यति' अर्थात् मन तथा इन्द्रियों की स्वच्छता से आत्मा के बड़प्पन को देखता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मसाक्षात्कार तब तक नहीं होगा, जब तक साधक की मूल प्रकृति अथवा स्वभाव ही सर्वथा निर्मल अथवा पाप-रहित न हो जाये। जैसे जब तक जल में धूल, मिट्टी मिली रहती है, तब तक काम, क्रोध, शोक आदि विकारों से विकृत रहता है, तब तक उसमें आत्मा का प्रकाश नहीं आता। जब वह इन विकारों से शुद्ध हो जाता है, तभी मनुष्य आत्मा का दर्शन करता है और वह उसकी महिमा को ग्रहण कर सकता है।

उपर्युक्त दोनों मन्त्र इस बात पर बल देते हैं कि हमारा जीवन नितान्त पाप रहित होना चाहिए ताकि हमारा अन्तःकरण स्वच्छ एवं निर्मल हो जाए। प्रभु पूजन के लिए हमारा मन-मन्दिर आलीशान बन जाए तथा वह सूक्ति हमारे जीवन में सार्थक हो जाये जो भक्त कबीर ने कही है—

"कबीरा मन निर्मल भयो जैसे गंगा नीर।
पाछे-पाछे हरि फिरें, कहत कबीर-कबीर॥

अन्तःकरण की स्वच्छता तब तक कभी नहीं होगी जब तक अन्तर्मुखता, विनम्रता, मानसिक शान्ति, सत्यता, तप, दूर दर्शिता, शारीरिक बल एवं मनोबल तथा धार्मिक

लक्ष्य हमारे जीवन के अटूट अंग न बन जाएँ।

ध्यान करने का अभ्यास—

पूर्वोक्त दोनों मन्त्र इस तथ्य पर जोर देते हैं कि नितान्त पापरहित एवं स्वच्छ जीवन होने पर ही उस निरंजन एवं अद्वितीय आत्मा का ध्यान करने से आत्मबोध होगा। तो फिर ऐसा ध्यान करने का माध्यम क्या होना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न उपनिषद् पिप्पलाद देते हैं।

जो मानव तीन मात्राओं वाले ओंकार के द्वारा परम पुरुष का ध्यान करता है—

१. वह (इस जीवन में ही) सूर्य की तरह तेजस्वी बन जाता है,

२. जैसे सांप अपनी कोंचली को बिना किसी कष्ट के छोड़ देता है, उसी प्रकार वह मानव अपने पापों से मुक्त हो जाता है और बड़ी सुगमता से ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। तथा—

३. सब प्राणियों में बुद्धिमान परम पुरुष परमात्मा का साक्षात् कर लेता है अर्थात् आवागमन के सतत् चक्कर से छूटकर मुक्त हो जाता है।

इसी उपनिषद् के पांचवें प्रश्न के सातवें मन्त्र में ऋषि स्पष्ट रूप में बताता है कि ओंकार द्वारा उपासना करके उपासक शान्त, अजर (जरा एवं क्षय से रहित), अमर और भयरहित 'पर' ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। अतः इन दोनों मन्त्रों से सिद्ध है कि ओ३म् का ध्यान करना सर्वश्रेष्ठ साधन है और हम इसे अपने जीवन में प्रभावशाली ढंग से मोक्ष प्राप्ति के लिए अपना सकते हैं।

भगवद्-कृपा के लिए याचना करना—

बेशक हमारा जीवन भी स्वच्छ तथा निर्मल हो जाए, हमें आत्मानुभूति के लिए शुद्ध हृदय से प्रभु से उसकी कृपा-दृष्टि के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। इसकी पुष्टि कठोपनिषद् का निम्न मन्त्र करता है :

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्,
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(१।२।२३)

'इस आत्मा का साक्षात्कार केवल प्रवचन सुनने से नहीं हो सकता, न ही बुद्धि द्वारा तथा न ही बहुत श्रवण से हो सकता है। जिसको वह आत्मा स्वयं चुन लेता है, उसको वह अपने वास्तविक स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है।

यह मन्त्र स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि प्रभु की कृपा दृष्टि के बिना आत्मानुभूति नहीं हो सकती। इसलिए मानव के पूर्ण प्रयत्न तब तक सफल नहीं हो सकते, जब तक ईश्वर की कृपा दृष्टि उस पर नहीं हो जाती। तो आइए, हम इस भगवदानुग्रह के हर प्रकार से पात्र बनें।

● गुरु के समीप बिना बोले ही शंकाओं का समाधान हो जाता है, बिना कहे उत्तर मिल जाता है। बिना बोले गुरु सिखा देता और बिना पूछे शिष्य सीख जाता है।

—श्री साने गुरु

● श्री विष्णु प्रसाद व्यास

अजपा में मन्त्र

अजपा की साधना अगर केवल 'सोहं' मन्त्र में ही की जावे तो सरल या उत्तम होती है। 'सो' और 'हं' प्राणों की ध्वनि है। केवल 'मैं वह हूँ' ही इसका अर्थ नहीं होता। प्राणों को भीतर बाहर ले जाने में ध्यान से सुनने पर सो और अहं की ही आवाज मालूम होती है। इसका प्रमाण इस तरह किसी बांस की नली या किसी खाली स्थान में हवा घुसने से 'सो' की आवाज होती है। पुनः जब सांस मुँह से बाहर निकलती है तो हमेशा हं या हा की आवाज होती है और मुँह बन्द करने पर म् की आवाज होती है, इसीलिए सोहं को प्राणों की ध्वनि मानते हैं। जिन्हें मन्त्र समझ कर सो और हं में श्रद्धा उत्पन्न हो, वे इसे प्राणों की ध्वनि समझकर करें। साधना में आगे बढ़ने के लिए उच्च साधकों को अपनी संकीर्ण भावनाओं व विचारों को तिलांजलि देनी पड़ती है। पुराने विचार और भावना पकड़े रहने पर आगे बढ़ना मुश्किल हो जाता है। क्योंकि संकीर्ण विचार ही मन के बन्धन हैं। प्रारम्भिक अवस्था में उन्हीं विचारों और भावनाओं की दृढ़ता से साधक को मदद मिलती है, पर आगे बढ़ने पर ये छूट जाते हैं या छोड़ना पड़ते हैं। जो मनुष्य ऊपर जाना चाहता है उसे सीढ़ी से मदद तो जरूर मिलती है पर आगे बढ़ने पर वह छूट जाती है, या छोड़ना पड़ता है। अस्तु, यदि अजपा अभ्यास सोहं में ही किया जाये तो अच्छा है।

किन्तु इतना कहने पर भी जिन्हें सन्तोष न हो वे गुरु मन्त्र या इष्ट मन्त्र में साधना करें। उदाहरणार्थ—राम, सीताराम, श्रीराम राधेश्याम, ओ३म् नमः शिवाय, ओ३म् नमो नारायणाय, ओ३म् भगवते वासुदेवाय आदि जैसे किसी मन्त्र से करें। नुकसान किसी मन्त्र में नहीं है। मन्त्र के प्रति अपना विश्वास होना चाहिए।

वायु में अपान वायु अर्थात् अन्दर जाने वाली श्वास में बाहर आने वाली श्वास का हवन करते हैं। सो की ध्वनि में हं की ध्वनि और क्रिया दोनों को हवन करते हैं। इस वर्तमान क्रिया के अभ्यास तक आते-जाते तुम्हारी श्वास और मन्त्र का अलग-अलग अस्तित्व नहीं रहना चाहिए। यहाँ प्राण, मन्त्र श्वास और मानसिक उच्चारण में ये सब एक ही क्रिया के पर्याय हैं।

हवन में अग्नि तो बराबर प्रज्वलित रहती है, पर हविष्य बार-बार स्वाहा मन्त्र के साथ अग्नि में डाला जाता है। यहाँ प्राण, वायु, अग्नि और अपान वायु उसमें हविष्य है। इसलिए प्राण, वायु तो निरन्तर अपनी स्वाभाविक गति से अन्दर जाती रहेगी, परन्तु प्रतिबार हं के साथ अपान वायु को बाहर झोंकना ही प्राण वायु में हवन कर देना है। इसलिए सो से श्वास अन्दर खींचो, स्वाभाविक गति से, किन्तु सो में हं को मिलाने की

क्रिया हवन की भावना के साथ करनी पड़ेगी। आपको यह ख्याल रखना पड़ेगा कि आप अपान के रूप में ह की आहुति दे रहे हैं। इसमें साधक को हमेशा सचेत और जागृत रहना पड़ेगा। एक भी आहुति अनजाने में या बिना भावना के नहीं जाने पावे।

इसे ही प्राण में अपान का हवन करना कहेंगे। ह को हमेशा चेतना के साथ स्थूल से बाहर लाना चाहिए। कोई भी श्वांस चुकने न पावे। क्रिया करते-करते, स्थूल जगत में सो जावेंगे, और चेतना अन्दर चली जावेगी। आलो चेतना को अन्दर जमाये रखने में परिश्रम तो बहुत मालूम पड़ता है, पर लगातार अभ्यास में लगे रहने से धीरे-धीरे अन्दर जाने की क्रिया मालूम पड़ने लगेगी। यदि नींद न आवे तो मनुष्य सूक्ष्म लोक में प्रवेश करता जाता है।

सूक्ष्म लोक में जाने का एक ही रास्ता, एक ही सुरंग या गली है वह है ध्यान। ध्यान पहले तो साधक के लिए साध्य है, किन्तु आगे चलने पर वह अन्तर्लोक में प्रवेश करने का साधन बन जाता है। पहले प्रत्याहार व धारणा आदि से बाहर की चीजों में रम लेने वाले मन को अन्दर की ओर जाने की आदत बनाओ। आदत बनाने पर उसे एकाग्रता की ट्रेनिंग दो। एकाग्रता की योग्यता प्राप्त कर लेने पर ध्यान के कमरे में घुसो। ध्यान का कमरा अँधेरी कोठरी है। जहाँ आप अपनी तस्वीर को धो सकते हो, डवलप कर सकते हो, जब तक बाहर का प्रकाश है, इन्द्रिय चेतना है, आप अपनी फोटो को धोने का काम नहीं कर सकते, परन्तु बाहर का प्रकाश बाहर ही छोड़कर आप अपने अन्दर अँधेरे कक्ष में चले जायें। यही ध्यान है। अजपा जप ही इसका रास्ता और द्वार है।

वास्तव में देखा जावे तो मनुष्य को विधाता ने मिट्टी से ही उत्पन्न किया है, अतएव नम्र बनकर रहने में ही उसकी महानता है। किसी का कथन है कि 'मनुष्य मिट्टी से बना है इसलिए यदि उसमें नम्रता नहीं तो फिर वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं, मिट्टी से बने मनुष्य की सन्तान को यह शोभा नहीं देता कि वह अहंकार और अभिमान आदि को अपने अन्दर भरे रखे।

कहते हैं महात्मा दत्तात्रेय जी ने चौबीस गुरु वरण किये थे। पेड़ को गुरु बनाया और उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि पेड़ जैसे धूप, वर्षा, सर्दी, गर्मी आदि सहन करके भी औरों को फल और छाया ही प्रदान करता है। नदी से यह गुण ग्रहण किया कि उसके साथ चाहे कोई कैसा व्यवहार करे, चाहे गन्दगी डाले अथवा फल-फूल डाले, वह हर किसी को समान रूप से लाभ पहुँचाती है।

भक्तिमान मनुष्य भी पेड़ और नदी आदि के समान परोपकारी और नम्र भाव का होता है और वह व्यवहार में सदैव शुभकर रहता है। यदि किसी बात पर किसी के साथ वाद-विवाद छिड़ भी जाये अथवा कोई उसे बुरी भली बात कहे, तो भी भक्तिमान पुरुष अपनी हार मानकर सब खोटी खरी सहन कर लेता है। वह हर समय सन्तों के इन वचनों को स्मरण रखता है।

॥ दोहा ॥

हारा सों हरिजन भला, जीतन दे संसार।
हारा हरिपुर जावेगा, जीता जम के द्वार॥

लोगों की मान बड़ाई की ओर न देखो। जिस प्रकार की रहनी-सहनी से आपको ईश्वर का मिलाप हो सके, उसी प्रकार का कार्य करो और वैसे ही वचन बोलो।

शान्ति जब ही प्राप्त होगी, जीव को अपने ही विचारों से प्राप्त होगी। जब तक वह भक्तिपूर्ण विचार नहीं बनायेगा तब तक सुख शान्ति की प्राप्ति असम्भव है। चाहे कोई घर में रहे चाहे घर-बार छोड़कर वनों में खाक छानता फिरे, शान्ति तो उसे तभी मिलेगी जब वह सन्तों सत्पुरुषोंकी शरण संगति में रहकर नाम की कमाई करेगा।

एक समय की एक घटना है उस क्षेत्र का थानेदार एकबार गश्त करते हुए और चोरों की खोजमें फिरते-फिराते जब एक संतआश्रम के पास से गुजरा, तो उसके मनमें भी सद्गुरु देव जी महाराज के दर्शन करने का विचार उत्पन्न हुआ और वह वहाँ जा पहुँचा।

श्री गुरुदेव जी ने वार्तालाप करते हुए कहा कि आप बाहर के चोरों को खोजने और उन्हें पकड़ने की चिन्ता में रहते हो, परन्तु आपके अन्दर जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, तृष्णा आदि चोर घुसे बैठे हैं जो दिन रात आपके शान्ति-धन को लूटते रहते हैं, क्या कभी उन्हें पकड़ने की सोची है?

ये वचन सुनते ही थानेदार साहब के कोई पूर्व के शुभ संस्कार जाग उठे और उसने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ज्ञान-दान यानी दीक्षा माँगी और आन्तरिक चोरों से सुरक्षा चाही। महापुरुष तो संसार में अवतरित ही इसीलिए होते हैं कि आम लोगों के पास, जायें और ऊपर लिखे गये चोरों से बचाकर उन्हें सच्चे सुख का मार्ग बतलायें इसलिए वे संसार में आकर ज्ञान भक्ति खुले हाथों बाँटते हैं। किन्तु संसार में भक्ति के इच्छुक बहुत कम होते हैं। आम लोग तो जागतिक पदार्थों मान-सम्मान, बन्धु-बान्धवों आदि में ही सुख-शान्ति की खोज करते रहते हैं। जब इन वस्तुओं में सुख है ही नहीं, तो फिर इनमें खोजने पर अथवा इनकी प्राप्ति पर वह मिलेगा कैसे? सौभाग्य से यदि उन्हें कहीं सत्संग मिल जाये, तो भी अपने विचारों के अनुसार वे जागतिक पदार्थ ही माँगा करते हैं। कोई विरले ही सौभाग्यशाली जन भक्ति ज्ञान या ध्यान के ग्राहक होते हैं।

सत्पुरुषों का कथन में—

ऐसी दिवानी दुनिया,
भक्ति भाव नहि बूझे जी।
कोई आवे तो बेटा माँगे,
यही गुरुजी दीजे जी।
कोई आवे दुःख का मारा,
हम पर किरपा कीजे जी।
कोई आवे तो दौलत माँगे,
भेंट रुपया लीजे जी।
कोई करावे विवाह सगाई,
श्री गुरुदेव रिझावे जी।
साँचे का कोई ग्राहक नाहीं,
झूठे जगत पतीजे जी।
कहे कबीर सुनो भाई साधो,
अँधों को क्या कीजे जी।

आम लोगों की दशा का अनुमान लगाते हुए महापुरुष कहते हैं कि आम संसारियों की प्रवृत्ति जागतिक पदार्थों की ओर होती है, और वे दिन रात उन्हीं की खोज और प्राप्ति के यत्न में लगे रहते हैं। यही कारण है कि वे दुखी और परेशान रहते हैं, क्योंकि सांसारिक पदार्थों और शारीरिक एवं ऐन्द्रिक सुख भोगों का प्रभाव ही दुःख देने वाला है।

कोई विरले गुरु-शिष्य, विचारवान, सत-संगी पुरुष जिन्हें सौभाग्य से सत्पुरुषों की चरण शरण प्राप्त हो जाती है और उनके सत्संग के प्रताप से जो प्रमाद निद्रा से जाग

जाते हैं तथा जिन्हें सत्य-असत्य, नित्य-अनित्य सुख देने वाली वस्तुओं का बोध एवं विवेक हो जाता है, ऐसे गुरु शिष्य शारीरिक एवं ऐन्द्रिक सुख भोगों की ओर ध्यान न देकर मालिक के भजन-सुमिरण की कमाई करते हैं जो शाश्वत सुख और परम शान्ति प्रदान करने वाली है। भगवान श्रीकृष्ण जी कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
गीता ५।२२

जो ये इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं ये यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःख के ही हेतु हैं और आदि अन्त वाले अर्थात अनित्य हैं। इसलिए हे अर्जुन ! बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

अतएव जो सच्ची शान्ति और सच्चे सुख के अभिलाषी हैं, वे सन्त सत्पुरुषों की चरण-शरण में रहकर नाम की कमाई करते हुए अपने मन को शुद्ध निर्मल बनाने का यत्न किया करते हैं और उस पर काम क्रोधादि की मैल नहीं चढ़ने देते और नम्रता पूर्वक सेवा भक्ति करते हुए अपने मालिक की प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। वे माया के अन्दर रहकर उस से काम लेते हैं, परन्तु माया को सद्गुरु की कृपा से अपने ऊपर सवार नहीं होने देते। इसलिये संसार में रहते हुये वे अपना यह जीवन भी सुखपूर्वक व्यतीत करते हैं और अपना परलोक भी संवार लेते हैं।

अग्नि बुझाने का कौशल

आग लगने से न मालूम कितने लोगों का सर्वस्व स्वाहा हो जाता है। निम्न-लिखित उपाय से बहुत आसानी से और आश्चर्यजनक रीति से अग्नि बुझाई जा सकती है।

अग्नि लगने पर जिस ओर उसकी गति हो, उस दिशा में खड़ा होकर, जिस नासिका से निश्वास चलता हो उस नासिका से वायु खींचकर नासिका द्वारा जल पीना चाहिए। एक छोटी लुटिया में चाहे जिससे जल मंगाकर यह कार्य किया जा सकता है। उसके बाद सात रत्ती जल—

उत्तरस्यां च दिग्भागे मारीचो नाम राक्षसः।
तस्य मूत्रपुरीषाभ्यां हुतो वह्निः स्तम्भ स्वाहा॥

इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करके अग्नि में डाल देना चाहिए। यह कार्य न करने पर भी केवल उपर्युक्त उपाय से ही बहुत लाभ होता है। बहुत बार प्रयोग करके इसका आश्चर्यजनक प्रभाव हमने देखा है और अनेकों की धन-सम्पत्ति की रक्षा भी हुई है।
(कल्याण से साभार)

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

षड् गुण सम्पदायें

एकवृत्त्यैव मनसः स्वलक्ष्ये नियतस्थितिः ।
शम इत्युच्यते सद्भिः शमलक्षणवेदिभिः ॥

अपने लक्ष्य में, अपने ध्येय में मन की एकाग्रता के कारण जो निश्चित स्थिरता आती है उसे ही शम का लक्षण जानने वाले शम कहते हैं।

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले में जो सद्गुण होने चाहिए। उनमें से पहला है शम।

शम का अर्थ है शान्ति। उस व्यक्तिमें शान्ति रहनी चाहिए। विकारोत्पादक और क्षोभकारक प्रसंगों के उपस्थित होने पर भी उसे अपनी शान्ति खोनी नहीं चाहिए। समुद्र में कितनी ही नदियाँ आ पड़ें तो भी वह उन्हें अपने में समा लेता है, उसी प्रकार अपने पर आ पड़ने वाले समस्त क्षोभजनक प्रसंगों में भी सबको उसे अपने में हजम कर लेना चाहिए।

× × ×

तत्तद्वृत्तिनिरोधेन बाह्येन्द्रियविनिग्रहः ।
योगिनो दम इत्याहुः मनसः शान्तिसाधनम् ॥

उन-उन वृत्तियों का निरोध करके बाह्य इन्द्रियों का विशेष नियन्त्रण करना दम कहलाता है। वह मन की शान्ति का साधन है।

× × ×

सहनं सर्वदुःखानां अप्रतीकारपूर्वकम् ।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ॥

(अपने ऊपर आने वाले) सब दुःखों को चिन्ता, शोक और प्रतीकार न करते हुए सहन करना तितिक्षा कहलाता है।

बाह्य वातावरण के शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों को तथा आन्तरिक सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति प्राप्त कर लेने पर जीवन-नौका का तर जाना आसान होगा।

× × ×

बाह्यानालम्बन वृत्तेः एवोपरतिरुत्तमा ।

'चित्तवृत्ति को बाह्य विषयों का आलम्बन न लेने देना उत्तम उपरति है ।'

उपरति का अर्थ है विषयोपभोग से दूर भागना, विषयों में आसक्त न होना ।

× × ×

गुरु-वेदान्तवाक्येषु बुद्धिर्या निश्चयात्मिका ।
सत्यं इत्येव सा श्रद्धा निदानं मुक्तिसिद्धये ।।

बुद्धि में यह निश्यचय होना कि गुरु और वेदान्त के वचन सत्य हैं, उस बुद्धि को श्रद्धा कहते हैं । वह मोक्ष प्राप्ति का साधन है ।'

गुरु और वेदान्त वचन पर श्रद्धा रखकर सदा प्रभावशाली रहें, निराश कभी न हों ।

× × ×

श्रुत्युक्तार्थावगाह विदुषा ज्ञेयवस्तुनि ।
चित्तस्य सम्यग् आधानं समाधानं इतीर्यते ।।

'श्रुति में कहे गये अर्थ का रहस्य जानने के लिए ज्ञेयवस्तु में यानी ब्रह्म में विद्वान अपने चित्त को स्थिर करता है, उसे समाधान कहते हैं ।'

मन की स्थिरता डिगने न देना, गीता की भाषा में 'यदृच्छालाभ सन्तोष रखना समाधान है ।

× × ×

मुमुक्षत्वम्

साधनानां तु सर्वेषां मुमुक्षा मूलकारणम् ।
अनिच्छोः अप्रवृत्तस्य क्व श्रुतिः क्व नु तत्फलम् ।।

'समस्त साधनों में मुख्य साधन है मुमुक्षा यानी मोक्ष की इच्छा । जिसको उसकी इच्छा न हो और उसके लिए जो प्रयत्न ही न करता हो उसे श्रुति के ज्ञान से क्या होगा और उस ज्ञान का फल यानी मोक्ष भी क्या मिलेगा ?

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहने वाले को निश्चित ही उसकी इच्छा होनी ही चाहिए ।

इसके लिए शंकराचार्य ने एक दृष्टान्त दिया है । मनुष्य गर्म बर्तन को जिस तीव्रता से फेंक देता है उतनी ही तीव्रता से जो मनुष्य घर-द्वार का और परिवार का त्याग करता है उसे ही वास्तविक मुमुक्षा है और उसे ही मोक्ष प्राप्त करने की तीव्रता है ऐसा समझना चाहिए ।

● श्रीमती सरिता भारद्वाज, एम.ए., बी-एड.

मन माने की बात

[मन क्या है, इसकी शक्ति और सामर्थ्य क्या है ? इसका सुन्दरतम् शास्त्रीय विश्लेषण विदुषी सुलेखिका श्रीमती सरिता भारद्वाज ने इस लेख में किया है और बताया है कि मन का समाहित हो जाना ही परम योग है।
—सम्पादक]

जिसको देखिये वही मन की शिकायत करता है। न पूछिये आजकल हमारा मन किसी काम में लगता ही नहीं और जप, पूजा, ध्यान में तो बिल्कुल ही नहीं लगता। जब मन से पूछा गया कि क्या तुम्हारी यह शिकायत सही है ? तो मन मुँहफट होकर बोला—सफेद झूठ—जो मेरे बारे में शिकायत करते हैं वे जिसको चाहते हैं और जहाँ मुझे लगा देते हैं मैं वहीं तो लगूँगा। मेरा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व क्या है कि मैं मना कर सकूँ। चाकू की क्या मजाल कि वह स्वयं किसी को काट दे, उससे जो जैसा काम लेता है उसे करना पड़ता है। जो उससे सब्जी काटना चाहे तो वह उसके लिए तैयार है, यदि वह सर्जन के हाथ में पहुँच जाय तो आपरेशन के लिए तत्पर है। एक वधिक के हाथ में पहुँचने पर दूसरे का गला काट देता है। इस प्रकार मन तो एक यन्त्र है, करण है, उसका जो जैसा प्रयोग करता है वैसा ही वह कार्य करने लगता है। जो इसे स्त्री, धन, पुत्र, घर, परिवार में लगा देते हैं। इसको एक बार समझा देते हैं कि यह सब तेरे हैं तो वह उनके साथ अपना नाता न केवल इस जन्म में अपितु जन्मान्तर में भी निभाता है यदि किसी ने उसे जप, ध्यान में नहीं लगाया तो मन बेचारा क्या करे।

मन बुद्धि के अधीन है, जैसा विचार बनता है मन उसी प्रकार का कार्य इन्द्रियों से कराने लगता है, वैसे उसकी शक्ति अकथनीय है, जिसे वह अपना मान लेता है उसके पास पहुँचने में नदी, पहाड़ वन बाधक नहीं बन सकते। आप हजारों मील दूर बैठे हों, फिर भी क्षण भर में आपका मन अपने घर पहुँचकर प्रिय लगने वाली वस्तुओं को देख आयेगा। जिस प्रकार सांसारिक भोगों में एक बार उसे लगा दिया तो वह उनमें लगा ही रहता है, उसी तरह यदि उसे परमार्थ-पथ पर लगा दिया जाय तो निश्चित रूप से उसके प्रति भी वह उतना ही वफादार सिद्ध होगा। सन्तों ने कहा भी है :—

पारब्रह्म को पाइये, मन ही की परतीति।

यदि मन को यह समझाते रहें कि असली चीज तो भोग और ऐश्वर्य ही है, आध्यात्मिक रस तो दिखावा है। खाने-कमाने का धन्धा है तो मन इसी को स्वीकार करके दिखाने के लिए ही जप, ध्यान का नाटक करता रहेगा। हाथ में माला पकड़ कर मन बहारों की गलियों में रसिक बन घूमता रहेगा जैसा कि उसको बताया था। धार्मिक बनने का ढोंग अवश्य कर देगा, जिससे लोग समझें कि इतनी मालायें जपता है, बहुत धार्मिक व्यक्ति है। यह दूसरी बात है कि

उस जप का जो फल होना चाहिए वह नहीं होगा, क्योंकि मन उसके बारे में आश्वस्त कहाँ है ? उसे तो पहले ही इस विचार से अनुशासित किया गया है कि सभी चीजों का फल वास्तव में होता नहीं है, लोगों को इस ओर खींचनेके लिए कह दिया गया है। इसको मानकर ही मन जिस प्रकार से जप करता है, उसे देखकर कबीर बड़बड़ाते हैं :—

"माला तो कर में फिरै,
जीभ फिरै मन मांहि।
मनुआ तो दस दिसि फिरै,
यह तो सुमिरन नाहि ।।"

मन शक्तियों का केन्द्र है। जगत में मन से बढ़कर और कोई शक्तिशाली नहीं है। मन ही जगत की सृष्टि करता है और मन ही सारे सम्बन्धों के ताने-बाने बुन देता है, जिसके जाल में यह जीव फँसा रहता है। मन ही बन्ध और मोक्षका भी कारण है, पर वह तब जब मन मान जाय। वह मन दुःख को दुःख भी कहाँ मानता है ? दुःख को सुख मानने के कारण उससे छूटने के उपाय का प्रश्न ही कहाँ उपस्थित होता है ? कबीर इस स्थिति का चित्रण करते हैं :—

"झूठे सुख को सुख कहै,
मानत है मन मोद।
जगत चबैना काल का,
कछु मुख में कछु गोद ।।"

जब मन दुःख को दुःख मान लेता है और वास्तविक सुख की तलाश करने लगता है, तो उसे मुक्त होने में देर भी नहीं लगती। मन का अनिश्चय, अज्ञान अथवा अविद्या ही जड़ चेतन की गांठ है। जो एक भ्रममात्र है' किन्तु जब तक भ्रम दूर नहीं होता तब तक तो वह दुःख देती ही रहती है जैसे—रज्जु में अन्धकार के कारण सर्प का भ्रम हो जाय तो भय, प्रस्वेद, रोमांच के लक्षण प्रकट हो ही जाते हैं और तब तक जब तक कोई प्रकाश में रस्सी के वास्तविक स्वरूप को न दिखा दे। जब तक मन में संकल्प विकल्प रहता है, तब तक वह संसार की रचना करता रहता है। वस्तुतः जब आत्मा दृश्ययुक्त हो जाती है तब वह मन कहलाता है। शुद्ध चेतन ब्रह्म दृश्य-भावापन्न होते जाने पर मन हो जाता है। मन बहुरूपिया है, कभी सुखी, कभी दुःखी, कभी रागी कभी वैरागी, कभी त्यागी, कभी ढोंगी तो कभी धर्मात्मा आदि न जाने क्या-क्या बनकर गिरगिट की तरह रंग बदलता रहता है। जैसा काम करता है वैसे ही उसके नाम और रूप हो जाते हैं। जैसे—एक ही व्यक्ति पुत्र भी है। पिता भी है, अधिकारी, सेवक, धर्मात्मा भी है। उसी तरह मन अनेक प्रकारके कार्य करते हुए अनेक नाम-रूप-धारी हो जाता है। वह मन ही जीव, वही वासना, वही कर्म और वही बन्धन हो जाता है। सूफी सन्त मलिक मुहम्मद जायसी मन के बहुरूपिये पन का चित्रण करते हुए कहते हैं :

'यह मन सकती यह मन सीउ।
यह मन पंच-तत्व का जीउ ।।

संसार के अन्दर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसके अन्दर मन न रहता हो। जड़ पदार्थों के भीतर भी वासना के रूप में मन इसी प्रकार विद्यमान है, जैसे कि बीज के अन्दर फूल और मिट्टी में घड़ा। स्थावर पदार्थों के रस के रूप में और जंगम पदार्थों में उल्लास के रूप में, जड़ पदार्थों में जड़ता के रूप में, द्रव में द्रवता के रूप के और कठोर वस्तुओं में काठिन्य के रूप में मन ही रहता है।

यह मन अनुकूल हो जाय तो अपनी सर्व शक्ति और सर्व-गत स्वभाव के कारण ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। योग-वाशिष्ठ में इसलिए मन को ही पुरुष कहा गया है—

'मनो हि जगतां कर्तृ, मनो हि पुरुष स्मृतः।' (३/९१/४)

मन के भीतर जैसी भावना हो जाती है, वह वैसा ही बन जाता है। वह जिस वस्तु को प्राप्त करने का निश्चय कर लेता है उसे प्राप्त करके ही छोड़ता है। योग वाशिष्ठ में कहा गया है—

'मनो यदनुसंधत्ते तदेवाप्नोति तत्क्षणात्।' (३/९१/१८)

जैसी कल्पना चित्त के अन्दर उदित होती है वैसी ही बाह्य-जगत में स्थिर और फलित होकर प्रकट होती है। श्रीमद्भागवत् में संसार-चक्र का परिवर्तन करने वाला परम कारण मन माना गया है। सुख-दुख के कारण मनुष्य देवता, शरीर, ग्रह, नक्षत्र, कर्म एवं काल आदि नहीं अपितु इसका कारण मन ही है। मनने ही विषयों, उनके कारण गुणों और उनसे सम्बन्ध रखने वाली वृत्तियों की रचना की है, क्योंकि मन का स्वभाव संकल्प है। मन जैसा संकल्प करता है, वैसा ही जगत निर्मित हो जाता है। इसलिए लोक में कहावत प्रसिद्ध है—

'आप भला तो जग भला।'

मन ही जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और भ्रम आदि अवस्था में बनता है। मन ही कल्प को क्षण बना देता है और क्षण को कल्प।

जीव में चित्त-शक्ति वर्तमान है, उसमें जिस प्रकार की शक्ति का उदय होता है, वृत्तियों के अनुसार सात्विक, राजस और तामस फल मिलते हैं। मन के अनुकूल होने पर संसार में कौनसी ऐसी वस्तु है जो प्राप्त न हो सकती हो। जप, तप, तीर्थ आदि मनको मनाने के लिए ही तो हैं—जैसा कि श्रीमद्-भागवत में स्पष्ट किया गया है—

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च,
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रह लक्षणान्ताः,
परो हि योगो मनसः समाधिः॥
(११/२३/४०)

अर्थात् दान, स्वधर्म, पालन, अहिंसा सत्य अस्तेय आदि तथा शौच, सन्तोष आदि यम-नियमों का पालन, वेदाध्ययन, सत्कर्म तथा ब्रह्मचर्य आदि श्रेष्ठ व्रत इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान में लग जाय। वास्तव में मन का समाहित हो जाना ही परम-योग है।

● इस संसार में दो अमूल्य रत्न हैं—एक भगवान और दूसरा सन्त। इन दोनों का कोई मोल-तोल नहीं हो सकता।

—दादूजी

योग

● एक योग-साधक साधु

'योग' शब्द का दुरुपयोग

'कर्म की निपुणता योग है', इस भाव से 'योग' शब्द कितने प्रकार से देश और भारत राज्य के पतन के साथ-साथ नीचे गिर गया है, और कितने विकृत अर्थ में अब इसका प्रयोग होने लगा है, यह यहाँ पर विचारणीय है। वर्तमान समय में ऐन्द्रजालिक कौशल (Magic) आदि भी योग का अङ्ग समझा जाता है। मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि की ओर ही आजकलके लोगों का झुकाव विशेष रहता है। किसी प्रकारकी कोई अस्वाभाविक क्रिया दिखा देने वालों को ही आजकल बहुत लोग योगी समझ लेते हैं, उनकी भक्ति करने लगते हैं और ठगाये जाते हैं। ताबीज कवच आदि के द्वारा जो लोगोंके कर्मफल का खण्डन करने की हिमा-यत करते हैं, जो वन्ध्या को पुत्र-प्राप्तिके लिए दवा देते हैं और रोगियों का रोग दूर करने की बात करते हैं, वे भी आजकल योगी कहे जाते और पूजित होते हैं। प्राचीन काल में जिनके हाथ ऊँचे रहकर भगवत्कार्य करने में लगे रहते थे, वे ही ऊर्ध्वबाहु होते थे। आजकल जो लोग 'भगवद्दत्त' की अवहेलना करके प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करके दोनों हाथों को ऊपर उठाकर उन्हें परवश कर रखते हैं, वे ही ऊर्ध्वबाहु योगी माने जाते हैं। प्राचीन काल में योगी ध्यान, धारणा, समाधि में इतने तन्मय हो जाया करते कि शरीर की ओर उनका ध्यान ही न जाता, उनके बालों में जटाएँ बँध जाती, शरीर पर धूल, मिट्टी आकर जम जाती। आजकल उसकी जगह बड़के दूध आदि से तोड़-जोड़ जटा बना ली जाती हैं और शरीर में मिट्टी-राख आदि मलकर योगी का स्वाँग बना लिया जाता है और भोले लोग यह सब देख-कर वशीभूत हो जाते हैं।

बड़े-बड़े शहरों में घर के मालिक जब ऑफिस में या बाजार चले जाते हैं, तब न मालूम कितने पाखण्डी, धूर्त योगी की पोशाक, गेरुआ वस्त्र, विभूति आदि धारणकर गृहस्थों के घरों में जाकर भोली स्त्रियों पर अपना प्रभाव जमाकर छल, बल, कौशल से कितने प्रकार से उन्हें ठगते हैं, इस बात का ख्याल आते ही मर्माहत होना पड़ता है। आजकल ऐसे योगियों की संख्या और प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गयी है कि इनके कारण वास्तविक योगियों ने लोकालय और प्रसिद्ध तीर्थ आदिसे बहुत दूर जाकर रहना आरम्भ कर दिया है फलत: गृहस्थ नकली योगियों द्वारा ठगे जा रहे हैं। आजकल अणिमा-लघिमादि अष्ट सिद्धियों का प्रभाव कहीं दिखाई नहीं देता सिद्धि आजकल दुकानों में भाँग और गाँजा आदि में सीमाबद्ध होकर नशेबाजी को बढ़ा रही है। भीतर से भगवत्प्राप्ति जनित ब्रह्मानन्द के नशे में विभोर न होकर आज के बने हुए योगी मदिरा, गाँजा, भाँग आदि नशीली चीजों को साधन का अंग कह

कर उनका प्रचार करते हैं। यहाँ तक कि देवाधिदेव महादेव के हाथों में भी उन्होंने संकोच छोड़कर अणिमादि अष्ट सिद्धियों के बदले भंग का प्याला और गाँजे की चिलम दे डाली है!

यथार्थ योग के प्रचार की आवश्यकता

देश और भाव के पतन के साथ ही साथ सभी बातों में स्वाभाविक रूपमें ही कुछ न कुछ विकृति आ गयी है। वर्तमान समय में आवश्यकता है उसके उचित संशोधन की। योगादि साधन-प्रणाली के अन्दर जब बहुत से सुन्दर-सुन्दर तत्व निहित हैं, उसकी सहायता से जब स्वास्थ्य-प्राप्ति, एकाग्रता-प्राप्ति, आनन्द-प्राप्ति, उन्नति-प्राप्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्प्राप्ति, जीव का कल्याण-साधन सहज सुन्दर और स्वाभाविक रूप में सुसाधित होने की सम्भावना है, तब इस योग साधन प्रणाली का संशोधन करने, इसकी उन्नति का उपाय करने, इसकी शिक्षा देने तथा सर्वसाधारण के सामने योग के उदार मत भाव और कास का एक उच्च आदर्श रखने की विशेष आवश्यकता है। यह सर्वसाधारण को समझा देना होगा कि वास्तविक योग क्या है, वह कितने रूपों में विभक्त है उसकी साधन-प्रणाली क्या है, किस तरह संसार के जीवों के हित साधन में उन्हें आनन्द प्रदान करने में इसका प्रयोग किया जा सकता है। कर्मयोगी किस प्रकार कर्म के रहस्य को समझकर, अनासक्त, निष्काम, फलाकांक्षा से रहित होकर केवल भगवत्प्राप्ति के लिए जीवों का कल्याण करने में भगवद्बुद्धि रखकर कर्म किया करते हैं, यह सुन्दर रूप में समझा देना होगा। ज्ञानयोगी इन्द्रियों को संयत करके, चित्त को शुद्ध और शान्त करके, स्वरूप प्रतिष्ठ आत्मभाव में स्थित होकर किस प्रकार समाधियोग के द्वारा परमात्मा में तन्मय हुए रहते हैं, यह भी समझ लेना होगा।

सच्चे योगियों की स्थिति

योगीगण देह, मन प्राण को शुद्ध और शान्त करके मूलाधार से कुलकुण्डलिनी को जाग्रत करके, सब चक्रों में, सब केन्द्रों में छिपी हुई शक्ति को प्रबुद्ध करके, समस्त शक्ति, ज्ञान, ऐश्वर्य से विभूषित होकर, सहस्रार में स्थित सदाशिव से, परमात्मा से युक्त होकर, तन्मयत्व प्राप्त करके, ज्योतिर्मय देह से भगवान के साथ किस प्रकार आनन्द समाधि में विभोर रहते हैं, जगत् का कल्याण करने में, भगवान की इच्छा पूरी करने में नियुक्त रहते हैं, यह तत्व अच्छी तरह समझ लेना होगा। भक्तियोगी प्रेम के साधक होते हैं, उनके भगवान सब भूतों में विराजमान रहते हैं। समस्त जगत् समस्त जीव-देह उनके प्रियतम श्री भगवान की मूर्ति या मन्दिर हैं। श्रीभगवान प्रकृति के सब तत्वों में, सब देहों में विराजित रहकर जीव के कर्म ज्ञान और भक्ति के अन्दर से अपना सच्चिदानन्द प्रकट कर रहे हैं। वास्तविक साधक आँख, कान, नाक आदि बाहरी इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि अहङ्कार और चित्त आदि भीतरी इन्द्रियों के द्वारा अपने प्राणाराम श्री भगवान के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य आदि का अनुभव कर हृषीकेश सेवारूप उत्तमा बुद्धि के साधन की सहायता से भगवत्-मिलन के आनन्द में विभोर रहते हैं।

साधन राज्य के योग साधन का सार-तत्व यही है कि हमारे अन्दर भगवान की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम और आनन्द निहित हैं। हमारी कामना, वासना,

आसक्ति, हमारी अज्ञानता, हमारे कुसंस्कार, हमारा स्वार्थ, आत्मसुख की स्पृहा, अहंकार और प्रतिष्ठा का मोह आदि उस भगवत् शक्ति के विकास में बाधा पहुँचाते हैं। अतएव हम जितना ही इन सब बाधाओं से मुक्त, शुद्ध, शान्त पवित्र होंगे, उतने ही भगवद्भाव हमारे अन्दर प्रकाशित होंगे, हम साधन राज्य में सिद्धि प्राप्त करेंगे। भगवान और हमारे बीच का यह काल्पनिक व्यवहार जितना ही दूर होगा, उतना ही हम भगवान के साथ युक्त होने और मिलने की योग्यता प्राप्त करेंगे। जहाँ इन सब उपाधियों के प्रति आसक्ति, स्पृहा, दृष्टि-गोचर हो वहीं समझ लेना चाहिये कि साधक गलत रास्ते पर चल रहा है, उसका पतन और उसके द्वारा देश का अमंगल अवश्यम्भावी है। योगी थे भारत के प्राचीन ऋषि-मुनि, जो संयत, शुद्ध, शान्त और पवित्र होकर भगवान में तन्मयता प्राप्त करके जीवों का कल्याण करने में तल्लीन रहा करते थे, वे लोग ममता रहित, अहंकारशून्य थे; वे लोग प्रतिष्ठा को भारविष की तरह त्याग देते थे।

वे जगत् को ब्रह्ममय देखते हैं, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ब्रह्मानुभूति, ब्रह्मसेवा, जीवसेवा उनके जीवन की प्रधान साधना रहती है। योगिनियाँ थीं वृन्दावन की गोपियाँ जिनकी आँखों की साधना थी सर्वत्र भगवद्दर्शन, कानों की साधना थी सब शब्दों के भीतर भी भगवान की वंशी ध्वनि सुनना, उनका मन, प्राण सर्वदा भगवान की सेवा और ध्यान में डूबे रहते। इन्द्रियों द्वारा इन्द्राधीश की अनुभूति और सेवा क्या चीज है; कर्म किस तरह भगवदाराधना में पर्यवसित होता है, बातचीत किस प्रकार भगवान् गुण गाने में, चलना किस प्रकार भगवत् प्रेम में नाचने और भगवान के मन्दिर की प्रदक्षिणा में, चिन्तन किस प्रकार ध्यान में और समस्त जीवन किस प्रकार ब्रह्मानन्द की अनुभूति में पर्यवसित होता है; गोपी प्रेम के भीतर इसका आस्वाद करने का सुयोग हम पाते हैं। उनकी देह, मन, प्राण आत्मा सर्वदा भगवान के कर्म करने में युक्त रहा करते, अतएव हम प्रधान योगियों के रूप में उनकी भक्ति करने के लिए बाध्य हैं। श्री कृष्ण को देखना, श्रीकृष्ण का ध्यान करना और श्रीकृष्ण की सेवा करना ही उनकी प्रधान साधना थी। वे इस साधना में तन्मयता प्राप्त करके सम्पूर्ण रूप में अपने को भूलकर 'इतर-राग-विस्मारक कृष्ण-प्रेमार्णव में निमग्न होकर, श्रीकृष्ण में तन्मयता प्राप्त कर श्रीकृष्ण के साथ युक्त हो जातीं, मिल जातीं—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनमेतदेकपरत्वम् ।

इस भाव की साधना ही थी गोपियों की परम योगसाधना। वे थीं तद्गतचित्ता, तदात्मिका। वे अपनी देह के प्रत्येक तत्व में अपने प्राणाराम श्रीकृष्णचन्द्र के साथ युक्त रह-कर श्रीकृष्णमय हो जातीं। वे जगत् को कृष्णमय देखतीं—

जित देखौं तित श्याममयी है।

अतएव

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम् ॥

—इसी योग की सिद्धावस्था को वे प्राप्त कर चुकी थीं। इसी योग के फलस्वरूप अष्टसिद्धियाँ उनके चरणों में आकर लोटतीं तो भी वे सिद्धि को, भुक्ति-मुक्ति की वासना को बन्धन का कारण समझकर उनसे घृणा करती थीं। ★

सन्तों का सदाचरण

● श्री नारायण स्वामी

उदासीन जग सों रहै, जथा मान अपमान।
नारायन ते सन्त जन, निपुन भावना ध्यान॥
मगन रहै नित भजन में, चलत न चाल कुचाल।
नारायन ते जानिये, यह लालन के लाल॥
परहित प्रीति उदार चित, विगत दंभ मद रोष।
नारायन दुःख में लखें, निज कर्मन को दोष॥
सन्त जगत में सो सुखी, मैं मेरी को त्याग।
नारायन गोविन्द पद, दृढ़ शाश्वत अनुराग॥

नारायन हरि भक्त की, प्रथम यही पहचान।
आप अमानी ह्वै रहै, देत और को मान॥
कपट गाँठि मन में नहीं, सब सों सरल सुभाव।
नारायन ता भक्त की, लगी किनारे नाव॥
तजि पर औगुन नीर को, छीर गुनन सों प्रीति।
हंस सन्त की सर्वदा, नारायन यह रीति॥
जिनको मन हरि पद कमल, निसिदिन भ्रमर समान।
नारायन तिन सों मिलें, कबूँ न होवै हान॥

–: तीन बातें :–

तीन बातों का आदर करें — वृद्धावस्था, धर्म और नियम।
तीन बातों से प्रीति करें — शुद्धता, ईमान व कड़ा परिश्रम।
तीन चीजों की प्रशंसा करें — सुन्दरता, बुद्धि व चरित्र।
तीन गुणों को बढ़ावा दें — ढाढस, प्रसन्नता और सन्तोष।
तीन चीजें कायम रखें — प्रतिज्ञा, दोस्ती और प्रेम।
तीन चीजों से परहेज रखें — धूम्रपान, मद्यपान और जूआ।
तीन चीजों का नियन्त्र करें — जीभ, क्रोध और लालच।
तीन चीजों पर ध्यान दें — बोली, व्यवहार और कार्य।

नित्य की प्रार्थना :

● आचार्य विनोबा

प्रार्थना में विवेक

(१)

ॐ असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥

—हे प्रभो, मुझे असत्य से सत्य में ले जा, अन्धकार में से प्रकाश में ले जा। मृत्यु में से अमृत में ले जा।

इस मन्त्र में हम कहाँ हैं, अर्थात् हमारा जीव स्वरूप क्या और हमें कहाँ जाना है, अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है। हम असत्य में हैं, अन्धकार में हैं मृत्यु में हैं। यह हमारा जीव-स्वरूप है। हमें सत्य की ओर जाना है, प्रकाश की ओर जाना है, अमृतत्व को प्राप्त कर लेना है, यह हमारा शिव-स्वरूप है।

दो बिन्दु निश्चित हुए कि सरल रेखा निश्चित हो जाती है। जीव और शिव ये दो बिन्दु निश्चित हुए कि परमार्थ मार्ग तैयार हो जाता है। मुक्त के लिए परमार्थ मार्ग नहीं। कारण, उसका जीव-स्वरूप जाता रहा है। शिव स्वरूप का एक ही बिन्दु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया। जड़ के लिए परमार्थ मार्ग नहीं है। कारण, उसे शिव-स्वरूप का भान नहीं है। जीव-स्वरूप का एक ही बिन्दु नजर के सामने है, इसलिए मार्ग आरम्भ ही नहीं होता। मार्ग बीच वाले लोगों के लिए है। बीच वाले लोग अर्थात् मुमुक्षु। उनके लिए मार्ग है और उन्हीं के लिए यह प्रार्थना मन्त्र है।

'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' ईश्वर से यह प्रार्थना करने के मानी हैं, 'असत्य में से सत्य की ओर जाने का बराबर मैं प्रयत्न करूंगा।' इस तरह की एक प्रतिज्ञा-सी करना। प्रयत्नवाद की प्रतिज्ञा के बिना प्रार्थना का कोई अर्थ ही नहीं रहता। यदि मैं प्रयत्न नहीं करता और चुप बैठ जाता हूँ, अथवा विरुद्ध दिशा में जाता हूँ, तो वह किस काम का? नागपुर से कलकत्ते की ओर जाने वाली गाड़ी में बैठकर हम 'हे प्रभो, मुझे बम्बई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करें भी तो उसका क्या उपयोग? असत्य से सत्य की ओर ले चलने की प्रार्थना करनी हो, तो असत्य से सत्य की ओर जाने का प्रयत्न भी करना चाहिए। प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी प्रार्थना करने में यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना रुख असत्य से सत्य की ओर करूंगा और अपनी शक्तिभर सत्य की ओर जाने का भरपूर प्रयत्न करूंगा।

प्रयत्न करना है, तो फिर प्रार्थना क्यों? प्रयत्न करना है, इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए, मैं प्रयत्न करने वाला हूँ। पर फल मेरी मुट्ठी

में थोड़े ही है। फल तो ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है। मैं प्रयत्न करके भी कितना करूँगा ? मेरी शक्ति कितनी अल्प है ? ईश्वर की सहायता बिना मैं अकेला क्या कर सकता हूँ ? मैं सत्य की ओर अपने कदम बढ़ाता रहूँ, तो भी ईश्वर की कृपा के बिना मैं मंजिल पर नहीं पहुँच सकता। मैं रास्ता काटने का प्रयत्न तो करता हूँ, कि अन्त तक मैं रास्ता काटूँगा किन्तु बीच में मेरे पैर ही कट जाने वाले हैं, यह कौन कह सकता है ? इसलिए अपने ही बल-बूते से मैं मंजिल पर पहुँच जाऊँगा, यह घमण्ड फिजूल है। कामका अधिकार मेरा है, पर फल ईश्वर के हाथ में है। इसलिए प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर की प्रार्थना भी अवश्य चाहिए। प्रार्थना के संयोग से हमें बल मिलता है। यों कहो न कि अपने पास का सम्पूर्ण बल काम में लाकर और अधिक बल की ईश्वर से मांग करना यही प्रार्थना का मतलब है।

प्रार्थना में दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय है। दैववाद में पुरुषार्थ को स्थान नहीं है, इससे यह अवश्य है। प्रयत्नवाद में निरहंकार वृत्ति नहीं है, इससे वह घमण्डी है। फलतः दोनों ग्रहण नहीं किये जा सकते। किन्तु दोनों को छोड़ा भी नहीं जा सकता। कारण, दैववाद में जो नम्रता है, वह जरूरी है। प्रयत्नवाद में जो पराक्रम है, वह भी आवश्यक है। प्रार्थना इनका मेल साधती है। 'मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्योत्साह समन्वितः' गीता में सात्विक कर्ता का यह जो लक्षण कहा गया है, उसमें प्रार्थना का रहस्य है। प्रार्थना यानी अहंकार रहित प्रयत्न। सारांश 'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' इस प्रार्थना का सम्पूर्ण अर्थ होगा कि मैं असत्य में से सत्य की ओर जाने का, अहंकार छोड़कर, उत्साह-पूर्वक सतत प्रयत्न करूँगा। यह अर्थ ध्यान में रखकर हमें रोज प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि—

'हे प्रभो, तू मुझे असत्य में से सत्य में ले जा। अन्धकार में से प्रकाश में ले जा। मृत्यु में से अमृत में ले जा।'

(२)

प्रार्थना में विवेक

एक सज्जन लिखते हैं—

मैं और मेरे मित्र इधर कुछ वर्षों से हर सोमवार और गुरुवार को रात में प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना में गीता के 'स्थितप्रज्ञ' के लक्षणों वाले श्लोक पहले बोलते हैं और बाद में जो एकत्र होते हैं, उनमें से हर आदमी एक-एक अभंग बोलता है। और अन्त में 'अहिंसा-सत्य-अस्तेय' आदि एकादश व्रतों का श्लोक बोलते हैं और आरती के साथ समाप्त करते हैं। यह है हमारी पद्धति। बीच-बीच में कुछ साम्प्रदायिक कहलाने वाले लोग भी आते हैं। इनसे भी हम अभंग कहलवाते हैं। परन्तु उनमें कभी-कभी कोई 'ग्वालिन' के गीत गाने लग जाता है, तो कोई एक नाथ का 'असा कसा दवोचा देव बाई ठकडा' भगवान भी कैसा ठगोरा है तो कोई 'बैकुंठीची मूर्ति आली भीमा तीरी'—'वैकुण्ठ का भगवान भीमा तट पर आ गया' इस आशय का तुकाराम का अभंग गाता है। अब हमारी दृष्टि से ग्वालिन के भजन में शृंगार और कामुकता है, इसलिए हम उसे नापसन्द करते है। एकनाथ के भजन में भगवान को ठगोरा कहा है, वह भी ठीक नहीं लगता। और तुकाराम के अभंग में भी भगवान को चोर बताया गया है। हम कहते है कि ऐसे भजनों

से प्रार्थना की गम्भीरता कम हो जाती है। इस पर साम्प्रदायिक लोग कहते हैं, 'क्या ये भजन और अभंग हमारे बनाये हैं? बड़े-बड़े सन्तों की यह रचना है। शब्दों के प्रकट अर्थ की यह रचना है। शब्दों के प्रकट अर्थ की अपेक्षा इनमें कहीं गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ हो सकता है। केवल वाच्यार्थ न लें।' हम कहते हैं, इनमें यदि गहरा अर्थ हो भी तो सामान्य जनों की समझ में वह नहीं आता, इसलिए अपनी प्रार्थना में हम ऐसे अभंग न कहें। इस प्रकार के विचार-भेद हमारे अन्दर खड़े हो गये हैं। इनका समाधान आपकी ओर से हो, ऐसा हम चाहते हैं।

पत्र-प्रेषक का प्रश्न सबके काम का है। इसलिए इस पर गहराई से विचार करना जरूरी है। यह प्रश्न और भी कई जगह इसी रूप में मेरे सामने आया था और अनेक बार मुझे इसकी चर्चा करनी पड़ी है।

सबसे पहले हम एक बात याद रखें कि प्रार्थना में हम जो कुछ कहते हैं, वह हमारी अपनी चित्त-शुद्धि के लिए होता है। सन्तों ने अलग-अलग प्रसंगों पर जो भजन वगैरा लिखे, तब उनकी मनोभूमि अलग-अलग थी। उनमें से हम किन भजनों को चुनते हैं, यह हमारी मनःस्थिति पर निर्भर है। क्योंकि वह प्रार्थना हमारी है। हमें अपने शब्दों में ही प्रार्थना करनी है। परन्तु हमारी वाणी अपर्याप्त होती है, इसलिए हम सन्तों की वाणी का उपयोग कर लेते हैं। परन्तु हम जिस समय ये भजन गाते हैं, तब उतनी देरके लिए तो हमारे भजन होते हैं, उस समय वे उस कवि या सन्त के वचन नहीं होते। इसलिए हमको ऐसे भजनों और पदों का ही चुनाव करना चाहिए, जो हमारे मन के भावों को प्रकट करते हों। दूसरे पदों को हम त्याज्य नहीं कहते। उनमें गूढ़ अर्थ हो सकता है और शायद न भी हो। हमें इस वाद में पड़ने की जरूरत नहीं। हमारे मन के भावों को सरल भाषा में प्रकट करने वाले दूसरे अनेक भजन यदि मिल सकते हैं तो हम गूढ़ (छिपे) अर्थ वाले भजन लें ही क्यों?

पत्र-प्रेषक के प्रश्न का अर्थ इतने में आ जाता है। परन्तु सत्य की खोज की दृष्टि से हमें इस प्रश्न पर गहराई से विचार करना होगा। एक तो यह कि सन्तों के नाम पर जितने भजन हैं, हम यह न मान लें कि वे सब उन्हीं के बनाये हुये हैं। सन्त तुकाराम जब जीवित थे, तभी से अनेक लोग उनके नाम पर अभंगों की रचना करने लग गये थे। स्वयं तुकाराम ने इसका निषेध किया है। परन्तु इस निषेध की परवा न करते हुए कितने ही सन्तों के नाम पर ऐसा बहुत सा कूड़ा-कर्कट साहित्य में घुस बैठा है। इसलिए सुगम मार्ग यही है कि जो बात हमारे दिल को सही लगे, उसी को ग्रहण करें। जो सही न लगे, उसे नम्रतापूर्वक छोड़ दें। फिर वह चाहे किसी के नाम पर हो। परन्तु इन दिनों भक्तिमार्गी कहलाने वाले लोग इतने मूढ़ हो गये हैं कि सन्तों के नाम पर गाया गया कोई भी भजन—फिर वह कितना ही खराब हो—वे लोग जड़ श्रद्धा से गाते रहते हैं। उनको भजन का अर्थ समझने की भी अपेक्षा नहीं रहती। और उनकी भक्ति का प्रत्यक्ष आचरण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह भक्ति नहीं, भक्ति की विडम्बना है।

परन्तु यह भी सिद्ध हो जाय कि अमुक भजन क्षेपक नहीं है, स्वयं उन-उन सन्तों के द्वारा लिखे गये हैं, फिर भी सारे भजनों को प्रमाण-स्वरूप मान लेना जरूरी नहीं है।

भारत में बीच का जो गुलामी का समय गुजरा है, उसमें साहित्यकों के दिमाग में इतना शृंगार और कामुकता भर गयी थी कि जानकर आदमी को भारत के पतन की उपपत्ति खोजने के लिए कहीं जाने की जरूरत नहीं रह जाती। शृंगार को रसों का राजा बना दिया गया और उसका सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण करने में ही पण्डिताई की सफलता मानी जाती रही है। ऐसे विषयासक्त वातावरण में अवतरित सन्तों को भी यदि भक्ति-रस को शृंगार की भाषा में पेश करने का मोह हुआ हो या यह लगा हो कि केवल इस प्रकार ही लोगों को भक्ति की तरफ मोड़ा जा सकता है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं मानी जानी चाहिए। आज हम अहिंसा-वादी भी तो यही कर रहे हैं। हमारी बात लोगों की समझ में जल्दी आए, इस हेतु से हिंसा के क्षेत्र के शब्दों का व्यवहार हम करते ही हैं। सत्याग्रह की 'लड़ाई', 'आक्रमण-कारी' अहिंसा, अहिंसक 'सेना', अहिंसा का 'दण्ड', अहिंसा का 'दबाव' (प्रेशर), अहिंसा की 'जबरदस्ती' (कोअर्शन) वगैरह। यही शायद सन्तों ने भी किया होगा। दोनों तरफ एक ही मोह और एक ही परिणाम। प्रचार वेग से होता है, तो विचार दूषित होता है। इसलिए हम जो कुछ पढ़ें या सुनें, सारासार विवेक को सही सलामत, जाग्रत रखते हुए पढ़ें और सुनें—फिर वे सन्तों के भजन हों, धर्मग्रन्थ हों या सत्याग्रही साहित्य हो।

काल-प्रवाह के साथ-साथ मनुष्य के मन का भी विकास होता रहता है। इसलिए पूर्वजों की कृति में से केवल सार वस्तु ग्रहण कर लेनी चाहिए। असार को छोड़ देना चाहिए। हममें—उनके वंशजों में—यह हिम्मत होनी चाहिए। इसी हिम्मत को मैं श्रद्धा कहता हूँ। नचिकेता के बाप ने दुबली और मरणोन्मुख गायें दान के लिए एकत्र की थीं। उपनिषद् में कहा है कि उन्हें देखकर नचिकेता के मन में श्रद्धा ने प्रवेश किया—श्रद्धा आविष्ट होकर उसने अपने पिता से कहा—'यह क्या दान शुरू किया है आपने'? वही श्रद्धा हमारे अन्दर भी हो। इसके अभावमें हमारी आज की प्रार्थना और भजन वीर्यहीन और अहितकर बन गये हैं। यों तो हमारे यहाँ हर गाँव में भजन हो रहे हैं। परन्तु उनमें से कहीं सामर्थ्य का निर्माण नहीं हो रहा है। इसका कारण यही है कि उसमें सच्ची श्रद्धा नहीं है।

सूक्ति-सुधा

श्रम, संयम, सेवा, सदाचार, विनम्रतायुक्त व्यवहार मनुष्य के निर्माण और उत्थान में सदा सहायक होते हैं।

× × ×

जो मानव शरीर आदि साधनों को संसार की सेवा में नियुक्त कर देता है और अपने को परमात्मा के समर्पित करके अपने लिए संसार से कुछ भी नहीं चाहता, वही ईश्वरमय जीवन का अनुभव करता है।

—अमर मुनिजी

लघु-कथा बोध :-

सांप के पास मत जाओ

एक महाजन परमहंस रामकृष्ण के पास आए और बोले, "स्वामीजी मैंने अपनी सारी सम्पत्ति कुटुम्बियोंके नाम करदी है। व्यापार से अब मेरा कोई सरोकार नहीं रहा। सुनते हैं, सब कुछ त्याग देने से भगवान् के दर्शन होते हैं। मैंने तो सब कुछ त्याग दिया है, किन्तु भगवद्दर्शन मुझको अब तक नहीं हुए? इसका क्या कारण है?"

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "श्रीमद्, जिस बर्तन में बरसों तक तेल रहा हो उसमें से तेल की गंध खूब मांजने पर भी आसानी से नहीं जाती। इसी प्रकार सांसारिक बंधनों से एकदम छूट जाना असम्भव है। आपने अपनी सारी सम्पत्ति दूसरों को दे अवश्य दी है, परन्तु मन में वैराग्य का भाव एकदम आना आसान नहीं होता। पुरानी आसक्ति का थोड़ा-बहुत अंश रह ही जाता है।"

सारी जायदाद दूसरों के नाम लिख देने के कई कारण हो सकते हैं। चिन्ता से मुक्ति पाना एक कारण हो सकता है। जायदाद को छोड़ देने से ही कोई संन्यासी नहीं कहला सकता। माया-मोह-कामादि को मन से एकदम हटाकर भगवद्भक्ति करनी चाहिए। इसके बाद जो ज्ञान और वैराग्य प्राप्त होता है, वही असली होता है। यदि हम मन का विकास हुए बिना ही धन और सम्पत्ति का त्याग कर दें और फिर निरन्तर उस छोड़े हुए धन का ही चिन्तन करते रहें तथा उस चिन्तन का दूसरों को पता न चलने देने के लिए विविध प्रकार के ढोंग रचते रहें, तो इससे गृहस्थाश्रम ही कई गुना श्रेष्ठ होगा।

यदि हमें किसी ऐसे पुराने घर में रहना पड़े, जिसमें सांप, बिच्छू आदि विषैले जन्तुओं का वास हो, तो खूब सचेत होकर रहेंगे। इतनी ही सतर्कता धन और कामरूपी सर्प के प्रति भी रखनी चाहिए। जरा भी असावधानी करने पर सर्प कहीं से भी अचानक आकर काट सकता है। ईश्वर का सतत् ध्यान करो। गाँव के लोग जब कभी सांप को फन फैलाते देखते हैं तो नाग देवतासे प्रार्थना करते हैं जिससे कि वह वापस चले जायें। मन्त्रोच्चारण से सांप चला भी जाता है, किन्तु कामरूपी सांप से खेलना उचित नहीं। उससे दूर ही रहना चाहिए। मैं समझदार हूँ, संयमी हूँ, मेरा यह क्या कर सकता है, ऐसा न सोचना चाहिए। सांप के निकट जाने से वह अवश्य डस लेगा।

\+ \+ \+

एक और धनी पुरुष एक दिन श्रीरामकृष्ण के पास आये। वह कहने लगे, आपको निजी खर्च के लिए एक बड़ी रकम देना चाहता हूँ। यह लीजिये 'चेक'।"

उस धनवान ने अपनी यह इच्छा अच्छे विचार से ही प्रकट की थी, किन्तु परमहंस

ने उसको स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा, "जी नहीं, आपसे इतना पैसा ले लूँ तो बस उसी की चिन्ता में फंस जाऊँगा। मैं यह नहीं चाहता।"

धनवान ने फिर आग्रह करते हुए कहा, "यह दान मैं किसी सुपात्र को देना चाहता हूँ। आप क्यों रोक रहे हैं?" यदि स्वयं अपने नहीं तो किसी ऐसे व्यक्ति के नाम मुझे यह पैसा जमा कराने दीजिए, जो आपकी सेवा-सुश्रूषा करता रहता हो। आपको तो पैसे को छूने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। आप इनकार न करें। मेरे ऊपर कृपा करें।"

फिर भी श्रीरामकृष्ण नहीं माने। बोले, "मैं स्वयं आपका पैसा ले लूँ अथवा आप जैसा कहते हैं, वैसा प्रबन्ध करदूँ, इसमें अन्तर क्या है? सच छिप नहीं सकता। यदि मेरे उपयोग के लिए किसी दूसरे के पास पैसा रहे तो यह सम्भव नहीं कि मुझे उसके जमा-खर्च की चिन्ता न सतावे। आप स्वयं सोच सकते हैं। क्षमा करें।

इन शब्दों में श्रीरामकृष्ण ने दान लेना अस्वीकार किया। परन्तु दानी महाशय भी जल्दी मानने वाले नहीं थे, बोले, "आप तो विरक्त पुरुष हैं, धीर हैं। आपको किसी प्रकार का डर क्योंकर हो? आपने स्वयं कहा है कि सम्पत्ति और स्त्री-सौन्दर्य यदि अपने सामने समुद्र की तरह फैले हुए अपार दिखाई दें तब भी जिस मनुष्य का मन पवित्र हो, दृढ़ हो, वह उसमें कभी डूब नहीं सकता।

श्रीरामकृष्ण हंस पड़े और बोले; "हाँ, आप ठीक कहते हैं, किन्तु बहुत समय तेल पानी के सम्पर्क में रहे तो स्वच्छ तेल में भी बदबू आने लग जायेगी।

एकदम स्वच्छ मन की शक्ति अपार अवश्य होती है। ऐसा मन विपदाओं को रोक सकता है और अपने को जाल में फँसने से बचा सकता है, किन्तु विष-परीक्षा बहुत देर तक नहीं करनी चाहिए। विवेकयुक्त पुरुष भी गलती कर बैठता है। वासनाओं से दूर रहने में ही लाभ है। यदि हम वासनाओं के पास इस ख्याल से जाते रहें कि देखें, हमारी शक्ति कितनी है; तो हम अवश्य फिसल पड़ेंगे। ●

क्या अच्छा हो !

❀ श्री श्यामलाल गुप्त, काव्य किंकर

● बने अहिंसक
हिंसक मानव,
क्या अच्छा हो।

● स्वार्थ त्याग
पर-हित-तत्पर हो,
क्या अच्छा हो।

● वैर त्याग दें,
प्रेम पूर्ण हो,
क्या अच्छा हो।

● राम, गौड अरु खुदा एक है,
यह समझें तो,
क्या अच्छा हो।

● मधुर-प्रेम की
मधुर रागिनी सब गायें
तो क्या अच्छा हो।

● प्रेम-सूत्र में सभी बँधें
प्रेम-योग में सभी पगें
हिंसा विलीन हो,
क्या अच्छा हो।

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

स्वामी विरजानन्द सरस्वती

भगवत्प्राप्ति के लिए साधक में ये गुण आवश्यक हैं—

(१) धैर्य (२) अध्यवसाय (३) देह और मन की पवित्रता (४) तीव्र आकांक्षा या व्याकुलता (५) षट्सम्पत्ति अर्थात् शम (अन्तःकरण की स्थिरता), दम (इन्द्रिय निग्रह), उपरति (विषयासक्तित्याग), तितिक्षा (सब तरह के दुःखों में अविचलित रहना), श्रद्धा (गुरु और शास्त्रवाक्य में विश्वास) और समाधान (इष्ट में चित्त-स्थापन)।

× × ×

साधन-भजन द्वारा जो उपलब्धि और दर्शनादि हों, वे गुरु को छोड़कर और किसी से भी नहीं कहना चाहिए, तुम्हारी आध्यात्मिक सम्पदा—तुम्हारी अन्तरम विचारधारा—अपने अन्तःकरण में ही छिपाकर रखो। दूसरों के निकट उसे प्रकट न करो। वह तुम्हारा पवित्र गुप्त धन है, एकमात्र भगवान के साथ एकान्त में उपभोग की वस्तु है। फिर इसी तरह अपने दोष, कमी तथा अनाचार की बातें भी दूसरों के पास बताते न फिरो। उससे अपना आत्म-सम्मान खो डालोगे तथा दूसरों के निकट हीन कोटि के व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध होगे। अपने दोष और दुर्बलता भगवान के पास व्यक्त करो और उनसे प्रार्थना करो कि वे तुम्हें इन्हें सुधारने की शक्ति प्रदान करें।

× × ×

ध्यान करने के लिए बैठने पर पहले कुछ समय स्थिर बैठकर, मन जहाँ जाय, जाने दो। सोचो, मैं साक्षी हूँ, द्रष्टा हूँ, बैठे-बैठे मन का डूबना-उतराना, दौड़-धूप देखो, लक्ष्य करो। सोचो, मैं देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं; मैं मन से सम्पूर्ण पृथक हूँ। मन भी जड़ है, जड़ की ही एक सूक्ष्म अवस्था। मैं आत्मा हूँ, मालिक हूँ, मन मेरा दास है। जब भी कोई व्यर्थ विचार मन में उठे, उसी समय उसे जबरदस्ती से दबा देने की चेष्टा करते रहो।

× × ×

साधारणतः विश्राम के समय बायें नथने से और कामकाज के समय दाहिने नथने से श्वास-प्रश्वास निकलता है। ध्यान के समय दोनों नथनों से समान निकलता है। जब देह-मन शान्त हो जाते हैं और दोनों नथनों से समान रूप से श्वास-प्रश्वास निकलने लगे, तब समझना कि ध्यान के लिए अनुकूल अवस्था उपस्थित हुई है। पर यह देखने के लिए श्वास-प्रश्वास पर अधिक निगाह रखने की आवश्यकता नहीं, और इसे ही मापदण्ड मानकर अपना कामकाज नियन्त्रित करने की जरूरत भी नहीं।

× × ×

मन को स्थिर होते ही वायु स्थिर हो जाती है—कुम्भक हो जाता है। पुनः वायु स्थिर होने से ही मन एकाग्र हो जाता है। भक्ति-प्रेम से भी कुम्भक अपने आप होने लगता है—वायु स्थिर हो जाती है। व्याकुलतापूर्वक अन्तःकरण से स्मरण-मनन करने और मन्त्र जपने से प्राणायाम अपने आप ही होने लगता है।

× × ×

चाहे जितने समय तक जप-ध्यान करो—भले ही १०-१५ मिनट करो—उतना ही अच्छा है, किन्तु इसे मन-प्राण की तन्मयता से करो। प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, भीतर देखते हैं; कितने समय तक ध्यान किया, या कितने बार जप किया इसे वे जानते ही हैं।

× × ×

आरम्भ में जप-ध्यान नीरस ही लगता है। तो भी औषधि निगलने के समान किये जाओ। ३-४ वर्ष निष्ठा के साथ करने पर आनन्द मिलने लगेगा। तब एक दिन भी न करने पर अत्यन्त कष्ट होगा और कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा।

× × ×

आध्यात्मिक जीवन-लाभ के लिए प्रबल करना चाहिए। मैं स्वप्रयत्न से, साधन-भजन करके ईश्वर को अवश्य प्राप्त करूँगा, ऐसा दृढ़-संकल्प करके निष्ठा के साथ ३-४ वर्ष तक रोज कम से कम प्रातःकाल और सायंकाल, प्रत्येक बार दो घण्टा आसन पर बैठकर जपध्यान करते जाओ, भला होगा ही!

× × ×

गृहस्थों के लिए ज्यादा प्राणायाम करना ठीक नहीं। जो ज्यादा प्राणायाम करने के अभिलाषी हों उनके लिए यथासमय परमित पुष्टिकर सात्त्विक आहार, नियमित कार्यकलाप, उद्वेगशून्य जीवन, स्वास्थ्यकर निर्जन स्थान, विशुद्ध वायु, कोष्ठ शुद्धि, मितभाषिता—ये सब आवश्यक हैं। और सर्वोपरि ठीक-ठीक ब्रह्मचर्यरक्षा भी आवश्यक है। इन सबका व्यतिक्रम होने पर हृदय-रोग या मस्तिष्क रोग होने की सम्भावना है।

× × ×

जप-ध्यान करते-करते जब मन स्थिर हो जायगा, शुद्ध हो जायगा, तब मन ही तुम्हारा गुरु होगा, अपने अन्तर से ही सब विषय समझ पाओगे, संशय और प्रश्नों का समाधान होगा, तुम्हें साधना में आगे क्रमशः क्या-क्या करना होगा, कैसे चलना होगा, मन ही यह सब बतला देगा।

× × ×

जप करते समय इष्टमूर्ति का ध्यान भी अवश्य करो। नहीं तो जप जमता नहीं। पूर्ण मूर्ति ध्यान में न आने पर भी जितनी जो कुछ आये उसे लेकर ही ध्यान आरम्भ करो। न कर सकने पर भी बार-बार चेष्टा करो। न आवे तो छोड़ क्यों दोगे? मैं छोड़ने वाला आदमी नहीं हूँ इस दृढ़ता के साथ करते ही रहो। ध्यान क्या सहज ही, मन में हो आता है? मन को अन्य विषयों से पूरी तरह खींचकर ध्येय वस्तु में स्थिर रखने की बार-बार चेष्टा करनी पड़ेगी और यह करते-करते ही होगा।

कृपालु ग्राहकों से निवेदन

- 'सिद्धयोग' का २४वें वर्ष का वार्षिक मूल्य ४५) रु० निश्चित किया गया था लेकिन कुछ ग्राहकों ने इस २४वें वर्ष का मूल्य ४०) रु० ही मनीआर्डर द्वारा प्रेषित किया है। इन ४०) रु० भेजने वाले सभी ग्राहकों से निवेदन है कि वे ५) रु० प्रति ग्राहक की दर से कार्यालय को और प्रेषित करने की कृपा करें।
- नये ग्राहकों को ४५) रु० का मनीआर्डर ही भेजने की कृपा करनी चाहिए।
- एक आवश्यक निवेदन यह भी है कि 'सिद्धयोग' के वार्षिक मूल्य का मनीआर्डर किसी व्यक्ति विशेष के नामसे न भेजकर व्यवस्थापक सिद्धयोग कार्यालय श्री सिद्धगुफा सवाई (आगरा) के पते पर ही भेजा जाना चाहिए। यदि भेंट या गुरुदक्षिणा के रूप में भी जो रुपया भेजा जाय वह भी व्यवस्थापक सिद्धयोग कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें। किसी व्यक्ति विशेष के नाम से न भेजें।
- प्रस्तुत अङ्क जून-जुलाई ६१ ई० का २४वें वर्ष का अङ्क ३, ४ है। लेकिन भूल से टाइटिल पर अङ्क २, ३ छप गया है। पाठक इस भूल को सुधार लेने की कृपा करें। आगामी २४वें वर्ष के माह अगस्त का अङ्क ५वाँ अङ्क होगा जो नियत समय पर ग्राहकों और पाठकों की सेवा में पहुँचेगा।

—व्यवस्थापक

लेखकों से निवेदन

- 'सिद्धयोग' के सभी कृपालु लेखकों से निवेदन है कि वे अपने मौलिक लेख व रचनायें सम्पादकीय कार्यालय २६/४६ दिव्य कुटीर, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा-१ के पते पर ही भेजने की कृपा करते रहें, ताकि वे शीघ्र प्रकाशित हो सकें। सभी प्रकार के लेख शुद्ध, स्पष्ट अक्षरों में कागज के एक ही तरफ लिखकर भेजना उचित रहेगा।
- लेखों में जो भी शास्त्रीय सन्दर्भ दिये जाते हैं उनके मूलग्रन्थ का नाम अध्याय, काण्ड व श्लोक संख्या अवश्य लिखने की कृपा भी किया करें।

—सम्पादक

SIDDHAYOGA—Regd. No L. AG. 008, JUNE-JULY, 1991

प्रेषक कार्यालय :—

सि|द्ध|यो|ग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री...
....
....
....

परम औषधि—योग

योग-साधना और निरन्तर योगाभ्यास से शरीर सर्वथा स्वस्थ, नीरोग एवं सम्पूर्ण दोषों से मुक्त हो जाता है तथा मोक्ष प्राप्त करने के भी योग्य बन जाता है। इसी बात को आयुर्वेद-शास्त्र के मुख्य ग्रन्थ चरक-संहिता में इस प्रकार कहा गया है—

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षो निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः ॥ (शारीरस्थान १।१४)

सभी प्रकार की वेदनाओं को भवताप या त्रिताप (दैहिक, दैविक और भौतिक) कहते हैं। संसार के सभी मनुष्य भव-ताप से परितप्त हैं। इससे बचने की परम औषधि 'योग' ही है—

भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्।

मुद्रक-देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसईकलाँ, ताजगंज, आगरा Ph. 360426